सुकवि-समीक्षा

अथवा

आलोचना-समुच्चय

(हिन्दी के प्रमुख कवियों पर आलोचनात्मक दृष्टि)

लेखक

प्रो. रामकृष्ण शुक्ल एम. ए. 'शिलीमुख'

महाराजा कालिज, जयपुर

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

लाहौर

मूल्य २)

सूची

महात्मा कबीर

बहुत से पुराने महात्माओं और कवियों की भाँति कबीरदास जी के भी जन्म-मरण की तिथियाँ अनिश्चित, संदिग्ध, ही हैं। केवल एक बात सही मालूम होती है कि ये बादशाह सिकन्दर लोदी के समय मे हुए थे। भिन्न-भिन्न आधारो से इनके जन्म-संवत् १४३७, १४५१, १४५२, १४५५ और १४५७ बताये जाते हैं तथा मरण-संवत् १५०५, १५५२ और १५७५। कबीर-पन्थी तो इनका जन्म १२०५ सं० मे भी बतलाते हैं, जिसके अनुसार इनकी आयु ३०० या ३०० से अधिक वर्ष की ठहरती है। मिश्रबन्धुओं ने इनकी आयु ६७ वर्ष की मानी है, अर्थात् १४५५ से लेकर १५५२ तक। इस आधार पर कि कबीर जी सिकन्दर लोदी के समकालीन थे इनका मरण-काल १५०५ मे होना असभव है, क्योंकि सिकन्दर लोदी संवत १५७४ मे गद्दी पर बैठा। यह देखते हुए तो इनका मरण-सवत १५७५ ही मानना चाहिए। बाबू श्यामसुन्दरदास इनका जीवनकाल १४५६ से १५७५ तक मानते हैं। मगहर ग्राम मे इनका देहान्त हुआ। 'कबीर-कसौटी' मे लिखा है—

पन्द्रह सौ पिचहत्तर, किया मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी, रलौ पौन में पौन॥

इनके जन्म के विषय मे भी कोई तो कहते है कि ये जुलाहे के पुत्र थे और कोई इन्हे जुलाहे का पोष्य-पुत्र बतलाते हैं। कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि ये जुलाहे का कर्म करते थे और पैदा होने के बाद से ही काशी के एक जुलाहा परिवार मे पले थे, क्योंकि ये स्वय कहते है—"मै कासी का जुलाहा।" इनके जनक अथवा पोषक मा बाप का नाम नीमा और नीरू था, इनकी स्त्री का लोई तथा पुत्र और पुत्री का कमाल और कमाली।

कबीर साहब ऊँचे साधु थे। ये हिन्दू-मुसलमान के अथवा और भी किसी प्रकार के जाति-पाति के भेद-भाव या छुआछूत को नहीं मानते थे। धार्मिक मतों की कृत्रिमता और आडबरो के, अधविश्वासों तथा पर्व-त्योहारो आदि के भी विरोधी थे। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने पीर-पैगंबरों, ईद-मसजिद आदि की निन्दा की है। कहते है, इस पर बादशाह लोदी इनसे नाराज़ हो गया और इन्हे जजीरों से बँधवा कर उसने गगाजी मे डलवा दिया। किन्तु इनका उससे बाल भी बाँका न हुआ और ये सुरक्षित रहे। इस पर कबीरजी ने ही लिखा है—

गंग लहर मेरी टूटी जंजीर। मृग छाला पर बैठे कबीर।
कह कबीर कोउ सग न साथ। जल-थल राखत हैं रघुनाथ॥

इनके चमत्कार के बारे मे और भी कथाएँ प्रचलित हैं। समभाव साधु होने के कारण हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इन्हें मानते थे। जब ये मरे तो हिन्दू-मुसलमानों मे झगडा हुआ। हिन्दू इन्हें जलाना चाहते थे और मुसलमान दफ़न करना। जब झगड़ा अधिक

बढा तो आकाशवाणी हुई, जिसने कफन उठाकर देखने के लिए लोगों से कहा । चादर उठाने पर कबीर जी के शव के स्थान पर फूल रक्खे हुए दिखाई दिए जिन्हे हिन्दू-मुसलमानों ने आधा-आधा बाँट लिया और दोनो ने अपनी रीति के अनुसार उनका सत्कार किया ।

पहले कबीर भजन गा गाकर लोगो को शिक्षा दिया करते थे । इन्होंने गुरु नही बनाया था। बिना गुरु के उपदेशक पर उस समय शायद लोगों की श्रद्धा नहीं होती होगी, जिस पर कुछ मनुष्यो ने इन्हे 'निगुरा' कहना आरंभ कर दिया । इस पर रामानन्द जी को इन्होंने अपना गुरु बना लिया । पहले तो रामानन्द जी ने एक मुसलमान को अपना शिष्य बनाना स्वीकार नही किया, परन्तु बाद मे इनकी अत्यन्त भक्ति देखकर उन्हें स्वीकार करना ही पडा ।

रामानन्दजी काशी मे उस समय के सबसे बडे विद्वान् महात्मा थे । कहाँ तो पहले कबीरदास जी 'निगुरे' रह कर ही उपदेश दिया करते थे और कहाँ रामानन्दजी के शिष्य बनकर गुरु-माहात्म्य के इतने जबरदस्त उपासक बने कि इन्होंने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व दिया । इन्होंने कहा है—

> गुरु गोबिंद दोनों खड़े, काके लागौं पाय ।
> बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दिया बताय ॥
> कबिरा ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और ।
> हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥

कबीरजी ने अपनी 'निगुरी' पूर्वावस्था का भी सकेत किया है—

जब कबीर हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं।
गुरु को जबतें देखिया, गावन को कछु नाहिं ॥

इस दोहे के तृतीय चरण का पाठान्तर 'अब गुरु दिल में देखिया' भी मिलता है। पाठान्तर स्वीकार करके 'गुरु' का अर्थ यदि 'ईश्वर' लगाया जाय तो यह दोहा लौकिक चहल-पहल में रत मनुष्यों पर भी लागू होता है, अथवा फिर इससे उनकी गुरु-भक्ति की गहनता सूचित होती है। गुरु अपने मूर्त रूप में, तथा उपदेश रूप में सदा उनके हृदय में रहते थे।

कबीरदास ने गुरु-महिमा पर बहुत अधिक लिखा है। ऊपर के दोहे का भाव बढ़ कर निम्नलिखित दोहे में आत्म-समर्पण का रूप ग्रहण कर लेता है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं ॥

परन्तु यहाँ भी 'गुरु' शब्द को यदि 'ईश्वर' के अर्थ में माना जाय तो 'मैं' का अर्थ 'अहंकार भाव' होता है। पाठान्तर में 'गुरु' के स्थान में 'हरि' शब्द भी मिलता है। कबीर के ऐसे कितने ही पद मिलेंगे जिनमें 'गुरु' शब्द के दोनों अर्थ लगाये जा सकते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि ये गुरु को ईश्वर के समान ही मानते थे। परन्तु जहाँ उन्होंने 'सतगुरु' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ अभिप्राय अधिकतर गुरु से ही है, यथा—

सतगुरु दीनदयाल हैं, दया करी मोहि आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय।

अथवा

उततें सतगुरु आइया, जाकी बुधि है धीर।
भवसागर के जीव कों, खेइ लगावैं तीर॥

कबीरजी की साधना प्रियतम-प्रियतमा भाव को लिए हुए थी। साधक स्त्री है और परमात्मा पुरुष अथवा प्रियतम है। गुरु का स्थान दूती का है, जो प्रियतमा को राह दिखाकर प्रियतम के पास पहुँचा देता है।

हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।

और फिर—

यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय,
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय।
जहाँ गैल सिलसिली, चढ़ौं गिरि गिरि परौं।
उठहुँ सँभारि सँभारि, चरन आगे धरौं।
समझ सोच पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय,
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिं ठहराय।
अधर भूमि जहँ महल पिया का हम पै चढा न जाय,
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हो भेद बताय।

'हरि जननी मैं बालक तेरा,' अथवा 'अवगुण मेरे बापजी बकस गरीबनेवाज' जैसे वाक्यों मे परमात्मा को कबीर साहब ने माता एव पिता के रूप मे भी ग्रहण किया है। पर यह उनकी पद्धति नहीं मालूम होती। प्रिय-प्रियतमा भाव के व्यंजक विवाह-संबधी पद उनके बहुत से हैं।

कबीर साहब का तमाम साहित्य इस बात की सूचना देता है कि वे सब तरह के भेद-भावों के विरोधी थे, मिथ्या परंपराओं या परिपाटियों को नही मानते थे तथा पाखंड से उन्हें द्वेष था। वे सत्य कथन कहने वाले, स्पष्टवादी तथा तीव्र आलोचक थे, जिसके कारण कही कही उनकी वाणी मे थोडी सी उद्दडता भी दिखाई दे जाती है, जैसे—'साकत सुनहा दोनों भाई।

अथवा

कनवा फराय जोगी जटवा बढौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गेले बकरा।
जगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैले हिजरा॥

समता-सूचक उनके पद प्रायः उदारता के व्यजक है, यथा—

कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।

या—एक जोति ते सब ऊपजा, कौन बामन कौन सूदा।

यही सम-भावना और अधिक बढ कर प्राणिमात्र को एक ही कोटि मे रख देती है—सबै जीव साँई के प्यारे।

परन्तु आलोचना मे स्वभाव की ओजस्विता और कथन की कटुता खूब बढी हुई है। वे कहते हैं—

लाडू लावर लापसी पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारा ले चला दे मूरति के मुख छार॥

तथा— अरु भूले षटदरसन भाई। पाषड भेष रहे लपटाई।

कहीं कहीं तो वे ललकारते नज़र आते हैं, जिससे उनके स्वसंबंधी अहंकार का भी रूप भासित होता है। ब्राह्मण को डाँटते हुए कह रहे हैं—

तू बाह्मन मैं कासी क जुलाहा, बूझहु मोर गियाना ।

परन्तु हमे ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मणत्व का मिथ्या अभिमान रखनेवाले केवल 'ब्राह्मण'-नामधारी पापडी लोगों को लक्षित करके ही यह कहा गया है और इसकी भासमान अहंकार-वृत्ति वास्तव मे पाषंड के विरोध की तीव्रता का ही एक स्वरूप है। क्योंकि दूसरी ओर ये परम सन्तोषी, सहृदय और अतिथि-सेवी भी दृष्टिगोचर होते है—

साईं इतना दीजिये, जामैं कुटुँब समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥

प्राय ये कपडे का थान बुनकर बेचने ले जाते और रास्ते मे यदि कोई जरूरतमन्द साधु मिल जाता तो उसे दे डालते, घर खाली हाथ ही लौट आते। यद्यपि जीविका के लिए ये अपना जुलाहे का कर्म करते थ, परन्तु धन से उन्हे घृणा थी। तभी तो अपनी तीव्र आलोचना के ढग मे इन्होंने अपने पुत्र तक के ऊपर कहा है कि—

डूबा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल ।
हरि का सुमिरन छोड़ि के, घर ले आया माल ॥

इनकी सहृदयता के विशेष उदाहरण आगे दिए जाएँगे।

कबीर साहब के स्वभाव का कोमल अंश रामानन्द जी को गुरु बनाने के बाद विशेष रूप से विकसित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। शिष्य बनने से पहले वे भी हिन्दू-संस्कृति-प्रधान किसी उपासना-रीति के पालन करने वाले रहे होंगे,

क्योंकि उन्हों ने स्वयं कहा है कि करोडों जन्म के मार्ग को गुरु ने पल भर में पार करा दिया, तथा—

हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोझ ।
सतगुरु की किरपा भई, सिरते उतरा बोझ ॥

गुरु के सपर्क से व्यापक राम का ज्ञान प्राप्त कर के ही सम-भाव का उनमे विकसित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भावुकता की वृत्ति के समृद्ध होने के लिए जिस भौतिक आधार की आवश्यकता थी वह भी, व्यक्तिगत रूप मे, इन्हे गुरु में ही मिला। अपने सन्तोप और स्वातन्त्र्य-भाव के कारण अपनी लौकिक यात्रा में इन्होंने कभी किसी से उपकृत होना पसन्द न किया होगा, परन्तु गुरु का उपकार इनके ऊपर ऐसा हुआ जिससे बढकर कोई किसी क साथ कर नही सकता। गुरु ने उनको राम-ब्रह्म से मिलाया, जिससे वे जीवन मुक्त हो गए—

हम न मरैं मरिहै ससारा ।

फलत' सरल-साधु कबीर का हृदय गुरु के लिए भक्ति रूपी प्रेम से छलछलाया पडता है।

व्यापक ब्रह्म को मानने वाले कबीर निर्गुणोपासक थे। इनकी उपासना के दो पक्ष दिखाई देते हैं—ज्ञान और भक्ति। इनके ज्ञान पक्ष के अन्तर्गत एक ओर तो मिथ्या मतमतातरों का खडन और दूसरी ओर अद्वैत या तद्गत अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा का सन्निवेश है। अद्वैत की प्रतिष्ठा मे स्थान-स्थान पर निर्विशेष ज्ञान का भी रूप दिखाई देता है।

खंडन इन्होंने अपने समय मे प्रचलित करीब करीब प्रत्येक ही हिन्दू या मुसलमान मत, पद्धति अथवा संप्रदाय का किया है। इन्होने मुसलमानों के पीर, पैगंबर, मुल्ला, मसजिद, काबा, ईद, नमाज़, आदि से लगा कर हिन्दुओं के प्रतिमा-पूजन, पुजारी, पंडित, कर्मकाडी, षाड्दार्शनिक, शाक्त, चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि तक सभी का खडन किया है, जैसा कि अबतक दिए गए कतिपय उदाहरणों से जाना जा सकता है। प्रतिमा-पूजन और अवतारवाद के तो ये अत्यन्त विरोधी थे। मूर्तिपूजा के विषय मे इन्होंने कहा है—

दुनिआ केसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय॥

सिद्धान्त की दृष्टि से, एक ओर तो 'सुन्न देस को बासी' जैसे वाक्य इन्हे शुद्ध अद्वैतवादी सिद्ध करते है और दूसरी ओर ये अपनी भिन्न भिन्न उक्तियों मे कही कही ये वैष्णवों के समर्थक दिखाई देते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत मार्ग मे भी आस्था रखते मालूम होते हैं, जैसे—'साकत ब्राह्मन मति मिले, बैसनों मिले चँडाल।' रामानुज क ब्रह्म मे दया हे और ससार के चिदचित् रूप उसी के उद्भास (या लीला रूप) हैं। कबीर को हम स्थान-स्थान पर ईश्वर को 'दयालु' 'मेहरबान', कहते हुए पाते हैं, और फिर वे कहते हैं—

घट घट में रटना लगि रही परघट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साहु हुआ कहुँ बाह्मन है कहुँ सेख जी॥

हम यह भी देख सकते हैं कि अवतार-विरोधी कबीर का यह

कथन वस्तुत' अवतार-कल्पना के कितना समीप पहुँच जाता है। यही नहीं, एकाध-स्थान पर उन्होने अवतार मे भी अपना विश्वास दिखाया है और ईश्वर को देवताओं का देव कहा है—

खंभा मैं प्रकट्यो गिलारि, हिरनाकस मारयो नख बिदारि।
महापुरुस देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट किये भगति भेव॥

नीचे के पद मे उनका ब्रह्म एक साथ ही सगुण और निर्गुण दोनों हे, अथवा यह नेति नेति की प्रतिध्वनि है ?—

तिरिया, पुरुस, कछु कह्यो न जाई, सर्वरूप जग रह्या समाई।
रूप, अरूप, जाइ नहि बोली, हलुका, गरुआ जाय न तोली।
अरस-परस कछु रूप गुन, नहि तहँ संख्या आहि।
कहै कबीर पुकारि के अदभुत कहिये ताहि॥

एक ओर उपनिषदों की दुहाई देते हुए कबीर जी कहते हैं— 'तत्वमसी इनके उपदेसा' और दूसरी ओर अद्वैत-रंग मे वे कहते हैं—

ततपद त्वपद और असीपद बाचलक्ष्य पहिचाने।
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने॥
सतगुरु मिलि सतसब्द लखावे, सारसब्द बिलगावै।
कहत कबीर सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै॥

न्याय दर्शन की तीन प्रकार की लक्षणा और वाचक तथा सांख्य के अव्याकृत, पञ्च महाभूत, पचीस तत्व, पुरुष, गुणात्रय आदि को भी उन्होंने निरर्थक बतलाया है, परन्तु योग को ये मानते थे। इन्होंने शायद स्वय भी योग का कुछ अभ्यास किया था और योग के संयोग से साधना करने का संकेत किया है, यथा—

ज्ञान का गेंद कर सुरति का दंड कर, खेल चौगान मैदान माही।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके, आयजा भेख भगवन्त पाही॥
भेख भगवन्त की सेस महिमा करै, सेस के सीस पर चरन डारे।
कामदल जीति के कँवलदल सोधि के, ब्रह्म को बेधि कै क्रोध मारे॥
पदम आसन करै पवन परिचै करै, गगन के महल पर मदन जारे।
कहत कब्बीर कोई सन्त जन जौहरी, करम की रेख पर मेख मारे॥

लेकिन साथ ही इनका निर्गुण ब्रह्म योग के ईश्वर से भिन्न है। इन सब के अतिरिक्त इन्होंने मुसलमानी विश्वासों का भी बिना खंडन किए उल्लेख किया है। निम्न पद्य मे मुस्लिम विश्वास से संबंध रखने वाले स्थानों के साथ साथ हिन्दू 'साकेत' को भी सम्मिलित कर दिया है—

तासु के बदन की कौन महिमा, कहौं भासती अति नूर छाई।
सुन्न के महल में बिमल बैठक, जहाँ सहज अस्थान है गैब केरा॥
छोडि नासूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी।
जाय जाहूत में खुदा खाबिन्द जहँ, वही मक्कान साकेत साजी॥

भक्ति मार्ग में विचरण करते हुए, कबीरजी परमात्म-पक्ष मे 'राम' को और भौतिक जगत् मे गुरु को ही सब कुछ मानते हैं। 'सतनाम' और 'सतगुरु', यही दो, इनकी भक्ति-रूपी उपासना के केन्द्र हैं। परन्तु इनके 'राम' दशरथ के पुत्र रामचन्द्र नही है। वे, 'ओंकार' शब्द के, जिसको इन्होंने 'रकार' कहकर भी अभिहित किया है, प्रतीक हैं। ये 'राम' 'निर्गुण', 'निराकार' के भी ऊपर हैं—'निरगुन, निरंकार के पार परब्रह्म है, राम को नाम रंकार जानो।'

यही 'राम' शब्द (या रंकार-ध्वनि) इनका 'सतनाम' है। 'सतनाम' के अतिरिक्त इन्होंने 'ओंकार' के लिए 'सबद' या 'शब्द' का भी प्रयोग किया है। 'सतगुरु' और 'सतनाम' का जब कभी भी कबीरदास जी उल्लेख करते है तो वे अत्यन्त द्रवित हो जाते है, परम दीन बन जाते हैं और दोनों के दयागुण की महिमा गाने लगते हैं। परन्तु कहीं कही हम यह भी देखते हैं कि कबीर का साईं 'अकार, उकार, मकार, मातरा, इनके परे बताया' गया है। वह ओंकार से भी परे है।

कबीरदास जी अशिक्षित थे, परन्तु उन्होंने भ्रमण अच्छा किया था और सन्तों से मिलने का उन्हें शौक था। अतएव वे बहुश्रुत महात्मा थे। उनके सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोधों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म के संबंध में उनका ज्ञान बद्धमूल होते हुए भी दूसरे महात्माओं से सुने हुए तत्सम भासमान अन्य सिद्धान्तो का भी प्रभाव इन पर पड़ा और उन सबका अपने अद्वैत के साथ सन्तुलन करने मे ये असमर्थ रहे। उनके संबध मे सभवत' इन्हे कुछ भ्रान्ति रही। इसके अति· रिक्त गुरु बनाने से पहले और कुछ समय बाद तक की सगुणो-पासना (क्योंकि रामानन्द जी सगुणोपासक वैष्णव थे) का भी संस्कार इनके भीतर स्वभाव का दुर्लंघ्य अंग बनकर रह गया होगा। अन्यथा भक्ति तथा निर्गुण का ज्ञान, यदि एकदम ही विरोधी नहीं, तो एक दूसरे से बहुत ज्यादा भिन्न अवश्य हैं। भक्ति किसी न किसी रूप मे सगुण के आधार को अवश्य ढूँढती है और वह हृदय

की भावुकता से संबंध रखती है। निर्गुण केवल ज्ञान का ही विषय है और शुष्क वस्तु है। सूफ़ियों की माधुर्यपूर्ण उपासना पद्धति का भी कबीर साहब पर प्रभाव पड़ा था। वे अपने निर्गुण-ज्ञान मे उसका बहिष्कार न कर सके और न अधिक उसे ग्रहण ही कर सके। इनके रचना-समूह मे शुष्क ज्ञान के पदों का ही बाहुल्य है।

शायद यह कहा जाय कि भिन्न भिन्न मतों का प्रभाव इनकी क्रमिक विचारधारा का सूचक है तथा उनके पूर्ण निर्गुणज्ञानोपासक होने से पहले के पद उनके ऊपर पड़ने वाले भिन्न भिन्न प्रभावों को प्रकट करते हैं। परन्तु ऐसी सूरत मे हमे यह मानना पड़ेगा कि अपने विकास-काल म इन्होंने बहुत ही कम रचना की, जब कि दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि गुरु बनाने के बहुत समय पहले से ही ये पद बना बनाकर लोगों को उपदेश भी देने लगे थे।

कबीर साहब के सिद्धान्तों मे उपर्युक्त विरोधों के समाधान के लिए कदाचित् यह भी कहा जाय कि कबीर जी हिन्दू-मुसलमानों को अथवा अन्य भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को आपस मे मिलाने के लिए व्यापक रूप से ग्राह्य ईश्वर की मूर्ति उपस्थित करना चाहते थे। उनका ऐसा उद्देश्य रहा होगा, या था, इसको मानने मे कोई बाधा नही है। परन्तु इसके लिए यदि वे एक ईश्वर को उपस्थित करते तब तो ठीक था, लेकिन ईश्वरों को उपस्थित करना समझ मे नहीं आता। इसके अतिरिक्त ठकुर-सुहाती कहकर सम्प्रदायों को मिलाने के यत्न की कोई भी सम्भावना हम खरी खरी कहने वाले कबीर

साहब मे नहीं देखते। अन्यथा उनके चरित्र मे एक दूसरे के विरोधी दो तत्वों को एक साथ रखकर हम उनके चरित्र को बहुत नीचा गिरा देंगे।

अद्वैत-ज्ञान के सिलसिले मे कबीर साहब ने माया के संबध मे भी कहा है। इस माया ने सब को वशीभूत कर रक्खा है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक इसके प्रभाव से नही बच सके। यह देखने मे मीठी लगती है और सबको भ्रम मे फँसा कर हरि तक नहीं पहुँचने देती। जितने भी कर्म आदिक हैं—आवागमन और दशावतार तक—सब माया ही हैं। यह माया बड़ी ठगिनी है। कामिनी और काचन इसके दो साधन हैं—

(क) माया दीपक नर-पतँग, भ्रमि भ्रमि माहि परत।

(ख) संतो आवे-जाय सो माया।

(ग) दस अवतार ईस्वरी माया करता के जिन पूजा।

(घ) माया महा ठगिनी हम जानी।

निरगुन फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।

(ङ) एक कनक एक कामनी, दुर्गम घाटी दोय।

यह माया ज्ञान और भक्ति ('नाम' की प्रीति) से दूर की जाती है—

आँधी आई ज्ञान की, ढही भरम की भीत।
माया टाटी उड गई, लगी नाम से प्रीत॥

इस प्रकार भक्ति की बडी महिमा है। भक्ति से ही मुक्ति मिलती है—'भगति मुकति गति पाई रे'—यद्यपि अन्यत्र यह भी कहा है कि 'ज्ञान बिना नहि मुक्ति है।' परन्तु भक्ति निष्काम होनी चाहिए—उसमे बैकुंठ या बहिश्त तक की कामना न हो—'भिस्त न मेरे चाहिये बाझ पियारे तुझ' तथा 'जब लग है बैकुंठ कि आसा। तब लग नहि हरि चरन निवासा।' साई के लिए प्रेम ही इस भक्ति का स्वरूप है और प्रेम का रूप है विरह। प्रेम और विरह तथा तत्सबधी वेदना के ऊपर कबीर जी ने बडी अच्छी उक्तियाँ कही हैं जिनमे वास्तविक और भावपूर्ण कविता दृष्टिगोचर होती है।—यथा

प्रेम न बाडी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय॥
बिरहा बिरहा मत कहो, बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरे, सो घट जान मसान॥
कबिरा बैद बुलाइया, पकरि के देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई, करक करेजे माँहि॥
जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या बेदन निरमई, भला करेगा सोय॥

कबिरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत ॥

कबीर का उद्देश्य साधना, ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त जनता को भी सही मार्ग दिखाना था। वे निश्चित रूप से सुधारक, उपदेशक तथा धर्म-प्रचारक थे। काव्य उनका लक्ष्य न था। अतः उनके बनाए हुए पदों मे बहुत अधिक शुष्कता या रूखापन हम पाते है। इसीलिए उनकी रचना मे हमे पद्य अथवा शुद्ध भाषा के ऊपरी गुण तक भी नही मिलते—छन्दों की गति अशुद्ध है, मात्राओं का कोई विचार नही है, दृष्टान्तों आदि मे प्राय प्रकृत और अप्रकृत के भाव-सामंजस्य की चेष्टा नहीं की गई है, उनमे प्रायः भावो का अनौचित्य देखा जाता है—ग्लानिव्यंजक, अश्लील अथवा ग्राम्य भावों तथा शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है। भाषा भी इनकी बडी विषम है, जिसमे जगह जगह की बोलियो और शब्दों का सम्मेल है और बेमेल शब्दों का प्राय एकत्र संस्थान कर दिया गया है। शब्दों को स्वेच्छानुसार इन्होंने तोडा-मरोडा भी है। इनकी बहुत सी त्रुटियों के उदाहरण पीछे दिए गए उद्धरणों में ही मिल जाएँगे। अश्लीलता आदि का उदाहरण हम यहाँ देना नहीं चाहते। व्याकरण की त्रुटि पिछले किसी उदाहरण मे आए हुए 'गया न जाय' मे देखी जा सकती है।

परन्तु भाषा का परिच्छद कुछ असामर्थ होने पर भी यदि कही भावों की सुसंपन्नता और शक्ति हमे दिखाई देगी तो हम वहाँ काव्यत्व मानेंगे। कबीर जहाँ भावुक हो गए हैं वहाँ कहीं कहीं तो

बहुत ही ऊँची कविता है। 'साईं' के प्रति भावना की निष्कपट सरलता को लेकर जहाँ कहीं ये बोले हैं, जहाँ प्रेममग्न हो विरह की पीर से इन्होंने कुछ कहा है, वहाँ ये हमारे बहुत से बडे-बड़े कवियों से टक्कर ले जाते हैं। ऐसे स्थलों पर इनकी भाषा में भी कुछ माधुर्य-विशेष आ जाता है। दो एक उदाहरणों से ही अन्दाज़ा हो जायगा—

(क) सुनहु हमारो दादि गुसाईं, अब जिन करहु बधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काचे भाडै नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि, आरतिबंत कबीर॥

(ख) तुम्ह बिनु राम कवन सो कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये।
बेध्यो जीव बिरह के भालै, राति दिवस मेरे उर सालै।
को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुरु सबद बहि गयौ सरीरा।
तुमसे बैद न हम से रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै वियोगी।
निस बासुरि मोहि चितवत जाईं, अजहुँ न आई मिले रामराई॥

(ग) बिरहबान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सुपुकि-सुसुकि मरि मरि जियै उठै कराहि कराहि॥

(घ) सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति स्वपना ह्वै जाय॥

(ङ) यह तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम को नाउँ।
लेखनि करौ करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥

परन्तु इस तरह की कविता थोडी ही है, क्योंकि अधिकतर तो

कबीर ने खंडन मडन के लिए ही कहा है। उनकी वाणी के बाहुल्य को देखते हुए इतने थोड़े काव्याश के आधार पर ही कबीर को सर्वथा कवि के रूप मे ग्रहण करना अनुचित होगा।

फिर, कबीर रहस्यवादी कवि भी कहे जाते हैं। रहस्यवाद का प्रश्न इतना व्यापक है कि इसकी मनोवृत्ति से कौन बचा है, यह बताना कठिन है। हम सभी लोग—केवल अपने दाल भात से संबध रखने वाले भी—रहस्यवादी हैं। जिस समय भी मनुष्य अपने, और अपनी परंपरा मे दूसरो के, ऐहिक कर्मों मे पारमार्थिक अभिप्राय को ढूँढने या देखने लगता है वही वह रहस्यवादी हो जाता है। संसार की विशेषताएँ और भाग्यवाद सामान्य जीवन में रहस्यवाद की भावनाओं के प्रेरक होते हैं। मात्रा का अन्तर हम से नामकरण करवाता है। सासारिकों मे इस प्रेरणा की मात्रा इतनी क्षणस्थायी होती है कि हम लौकिक-व्यवहार-लीन व्यक्तियो को रहस्यवादी नही कहते। क्षणिकता की अवस्था से उठकर जब यही प्रेरणा स्थायी बनने लगती है तो वह स्वभाव का अग बन जाती है और उसमे विवशता तथा भाग्यवादिता का अश घट कर लोक-मिथ्यात्व, असारता, ग्लानि, असंतोष आदि वृत्तियों का उत्तर दायित्व पैदा हो जाता है। इससे भी बढकर आगे की स्थिति मे तल्लीनता, हर्ष, उल्लास आदि व्यक्ति का स्वभाव बन जाते हैं। इस दृष्टि से लौकिक-व्यवहारों से उठ कर जब परमार्थ-चिन्तन बढेगा, तो, निश्चय ही, मनुष्य रहस्यवादी होने लगेगा। अतः सच्चे साधु-सन्त, सभी, किसी न किसी परिमाण मे रहस्यवादी होते हैं।

कबीर भी अवश्य रहस्यवादी हैं और पूर्ण रहस्यवादी। परन्तु दूसरी कोटि के, क्योंकि उनकी वाणी मे स्थान-स्थान पर फटकार, आलोचना, खंडन, गर्व आदि का जो उग्र रूप दिखाई देता है, वह अवश्य ही उनके अभ्यन्तर मे ग्लानि, असंतोष और क्षोभ की किसी अद्धव्यक्त या छिपी हुई परत का द्योतक है। इसीलिए वे लौकिक व्यवहारों का रहस्य-पक्ष से सामजस्य स्थापित करने मे असफल-से रहे हैं। इस बात को देखते हुए जायसी उनसे बहुत ऊँचे रहस्य-वादी हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से, यद्यपि वे अपने को कहीं-कही जीवन्मुक्त समझते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ('हम न मरैं') तथापि उनकी स्थिति जिज्ञासु और मुमुक्षु के बीच की मालूम होती है। हम देख चुके हैं, कि निर्गुण (या उससे भी परेवाले) रकार-राम के बारे मे उनके विचार सुपुष्ट और दृढ होते हुए भी, वे प्राय. दूसरे प्रभावों से अपने को निर्लिप्त नहीं रख सके हैं—निर्गुण मे भी दयागुण की भावना रखते हैं—कभी कभी अति कातर भी होते हैं और अवतार-विरोधी होने पर भी नृसिंहावतार का लौकिक रीति से वर्णन करते हैं। अभी-अभी हमने यह भी कहा है कि कबीर जैसे मुँह-फट, स्पष्टवादी महात्मा लोकरंजक, या आत्मरंजन ही, के लिए उपाधियों आदि से काम नहीं लेंगे। उनकी अत्यन्त दृढ विचारधारा मे भ्रान्ति, या भ्रान्ति नही तो दुर्बलता, का यह अस्तित्व तथा उनका चिडचिडापन जीवन्मुक्त अथवा मुमुक्षु के लक्षण नहीं कहे जा सकते। वे अभी जिज्ञासु ही हैं—कदाचित् ऊँचे जिज्ञासु—और द्वितीय कोटि के रहस्यवादी विचारक।

परन्तु रहस्यवादी 'कवि ?' उनको रहस्यवादी कवि मानने मे सब से पहली अड़चन यही है कि वे मुख्यत कवि नही है। दूसरी अड़चन उनकी भ्रान्ति की है। विचारक के लिए जो भ्रान्ति एक सरणि से दूसरी सरणि पर पहुँचने का साधन होती है वही कवि के लिए उसको पथभ्रष्ट करने तथा असफल बनाने का प्रधान कारण हो जाती है। कबीर को यदि हम कवि कहेंगे तो बहुत ही भटका हुआ और अपने कर्म को न समझने वाला कवि। काव्य के रहस्यवाद मे जिस लावण्य, भीनी व्यजकता और आकाक्षा (कौतुक) का सम्मिश्रण होना चाहिए वह कबीर की वस्तुतया रहस्यवादी उक्तियों मे कहाँ है ? जिन उक्तियो मे काव्यत्व है वे व्यक्तिगत हैं, उनमे अपनी व्यक्तिगत वेदना को लेकर रोना-धोना शिकायत-शिकवे, निहोरे तो है, परन्तु विपुल भासमान सृष्टि के साथ अपनी सहानुभूति या उस परम-ज्योति की परिलक्षणा कोई नहीं है। इन कविताओं मे कबीर जी जैसे प्राय. सृष्टि के बाहर की चीज़ हों—उनका नाता है तो केवल अपने राम से और उनके राम का नाता है तो केवल उनसे। कबीर का रहस्यवाद तो बड़े अपरिणाल, असिद्ध ढँग का है—काव्य मे। कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कबीर के आभारी है। यह बात हमारे कथन को पुष्ट करने वाली है। जो सुकुमारता हमे ठाकुर मे मिलती है, उसका कौन-सा अंश हम कबीर मे पाते है ?

यद्यपि कबीर कवि नहीं थे, तथापि उपदेशक की हैसियत से, प्रभाव और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्होंने काव्य के स्थूल

उपकरणों का कहीं-कहीं प्रयोग किया है। इन उपकरणों मे हम कुछ अलंकारों की गणना कर सकते हैं, जैसे विरोधाभास, अन्योक्ति अथवा फिर ध्वनि-क्रीडा या शब्द-क्रीडा। वैसे और भी अलंकार आए हैं, परन्तु विरोधाभास से तो इन्हे बहुत ही प्रेम मालूम होता है। विरोधाभास की रुचिप्रधानता के कुछ उदाहरण ये हैं—

(क) सिर राखे सिर जात है, सिर राखे सिर सोय।

(ख) डगमगाय सो गिरि परै, निचल उतरै पार।

(ग) बाँझ क पूत, बाप बिन जाया।

अन्योक्ति के उदाहरण—

(क) पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक।
मन मैली बिभिचारनी, ताके खसम अनेक॥

(ख) पानी मिले न आपको, औरन बकसत छीर।

(ग) काहे री नलिनी, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास॥

रहस्यवादी प्राय अन्योक्तियों का अधिक प्रयोग किया करते हैं। ध्वनि-साम्य का उदाहरण, जैसे, "बैद न बेदन जानई" मे, अथवा यमक और अनुप्रास के प्रयोग मे देखने को मिल सकता है। कभी कभी अनुप्रास आपसे आप भी बन जाता है। परन्तु 'मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जान' मे अनुप्रास का आना केवल प्रासगिक नहीं कहा जा सकता। इसी तरह 'जहँ आपा तहँ आपदा' अथवा 'प्रभुता को सब कोइ भजै, प्रभु को भजै न कोइ' की शब्द-क्रीडा भी प्रसंगत. नहीं आ गई है। चमत्कार पैदा करने के लिए ही इन्होने सांकेतिक पद भी कहे हैं और उलटबाँसियाँ भी, जो पहेली का-सा

रूप धारण कर लेती है। इनका अर्थ उलटा निकाला जाता है और उसका निकालना योग, सांख्य, वेदान्त आदि के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जाने बिना असंभवप्राय होता है। यथा—

माटि क कोट, पखान का ताला, सोइ के बन सोई रखवाला।
भूकि भूकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक सियार से भयऊ॥
मूस बिलारी एक सँग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज यह देखा हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय॥

अथवा संकेत पद—'बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता।'

इस प्रकार के कथनों में चमत्कार अवश्य रहता है—कम से कम वे कुतूहलवर्धक तो होते ही हैं, परन्तु उनमें काव्यत्व कुछ नहीं है। उनसे एक प्रकार का दर्द-सर होने लगता है। पर, कबीर को यदि हम प्रधानतः कवि नहीं कह सकते, तो भी हमको यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने हमें बहुत बड़ा और ठोस साहित्य दिया है—विचारक, सुधारक और प्रेरक महात्मा के रूप में। और इसलिए साहित्य में हमको भी उन्हें बहुत बड़ा स्थान देना होगा। इनकी वाणी की प्रेरणा-शक्ति इसी बात से प्रकट है कि तुलसी और सूर के साथ ही साथ, देश के साहित्यकार महात्माओं में इनका नाम भी वैसे ही व्यापक रूप से लिया जाता है और इनके पद भी उसी तरह जगह-जगह गाए जाते हैं। इनका चलाया हुआ कबीर-पंथ इस देश के बड़े पन्थों में से एक है।

कबीर जी ने अध्यात्म-विषयक उपदेशों के अतिरिक्त मनुष्य की साधारण जीवनचर्या के आचरण से संबंध रखने वाले भी बहुत से नैतिक उपदेश दिए हैं। साहित्यिक दृष्टि से, भक्ति और प्रेम

के पदों के बाद वे इनकी रचना के अति श्रेष्ठ अंग हैं। उपयोगिता की दृष्टि से तो वे अति मूल्यवान् हैं ही। कबीर-साहित्य के परिचय के लिए उनको देखना भी आवश्यक है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

या दुनिया में आय के, छाँड़ि देय तू ऐंठ।
लेना होइ सो लेय ले, उठी जात है पैंठ॥

केला तबहिं न चेतिया, जब ढिग जामी बेरि।
अबके चेते क्या भया, काँटों लीन्हा घेरि॥

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौडी बदले जाय॥

कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करै, तौ विष से अमृत होय॥

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की स्वाँस से, लोह भस्म हो जाय॥

रूखा सूखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥

इस तरह के उदाहरणों को देख कर कबीर जी के सात्विक मनोभावों और उनके सांसारिक अनुभव का काफी प्रमाण मिलता है। यह कहा ही जा चुका है कि उनका भ्रमण अच्छा था।

महात्मा सूरदास

श्री वल्लभाचार्यजी बडे पहुँचे हुए महात्मा हो गए है। इन्होंने प्रेम प्रधान सगुण कृष्णभक्ति का प्रचार किया। सूरदासजी इन्ही के मुख्य शिष्यो मे से एक थे। उन्होंने कहा है—

श्रीवल्लभ गुरु-तत्व सुनायो लीला-भेद बतायो।

वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने पिता के चार प्रमुख शिष्यों तथा चार अपने प्रमुख शिष्यों को लेकर एक कवि-वर्ग स्थापित किया जिसे उन्होंने 'अष्टछाप' नाम दिया। 'अष्टछाप' के महानुभाव वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित कृष्णभक्ति के आठ अति श्रेष्ठ कवीश्वर हो गए हैं। इनमे भी सूरदासजी का स्थान सबसे ऊँचा है। विट्ठलनाथ जी के द्वारा 'अष्टछाप' मे अपने सम्मिलित किए जाने का उल्लेख सूरदास जी ने इस तरह किया है—थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।

'शिवसिंह सरोज'-कार ने सूरदास जी का जन्म-संवत् १६४० लिखा है। यह संभव नहीं मालूम होता, क्योंकि वल्लभाचार्य जी की जन्म-मरण-तिथियाँ भारतेन्दु ने १५३५ सं० और १५८७ सं० बताई हैं तथा विट्ठलनाथ जी की १५७२ और १६४२। अतः मिश्र-बन्धुओं ने 'सूरसारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' की तिथियों के

आधार पर सूर का जन्म संवत् १५४० माना है। 'सूरसारावली' एक प्रकार से सूरसागर की सूची जैसी है और 'साहित्य लहरी' 'सूरसागर' के ही कुछ पदों तथा दृष्टिकूटों का सग्रह है। सूरदासजी के कथन के अनुसार 'साहित्य-लहरी' का रचना-संवत् १६०७ है और 'सूरसारावली' उन्होने ६७ वर्ष की आयु मे लिखी। इस प्रकार यदि यह भी मान लिया जाय कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही साल मे लिखे गए थे तो सूरदास जी का जन्म संवत् १५४० ही ठहरता है। सूरदास जी की मृत्यु १६२० सं० मे हुई, क्योंकि उस समय विट्ठलनाथ जी ४८ वर्ष के थे।

सूरदास जी की जाति के बारे मे दो मत हैं। सरदार-कृत 'सूर के दृष्टिकूट' के अनुसार वे भाट थ, क्योंकि उन्हे पृथ्वीराज के भाट-कवि चन्द बरदाई का वशज बताया गया है। परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता लिखी है, जिसमे उन्होंने सूरदास जी को ब्राह्मण कहा कहा है। सूरदास जी की मृत्यु के समय विट्ठलनाथ जी की आयु ४८ वर्ष की होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि गोकुलनाथ जी का जन्म उस समय से काफी पहले हो गया होगा। यह देखते हुए गोकुलनाथ जी का कथन ही अधिक विश्वसनीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाभादास जी के 'भक्तमाल' तथा मियाँसिह के 'भक्तविनोद' से भी उनके ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है।

इनके माता-पिता निर्धन थे। पिता का नाम रामदास था। आठ वर्ष की आयु मे पिता के साथ मथुरा जाकर फिर ये न

लौटे। पिता को यह समझा कर कि कृष्ण के आश्रय में वे अब अकेले ही मथुरा में रहेंगे सूरदास जी ने उन्हें खाली वापस लौटा दिया।

सूरदास जी अंधे थे। कोई कहते हैं वे जन्मांध थे, परंतु एक किंवदंती के अनुसार इन्होंने अपनी युवावस्था में किसी सुंदरी को देख कर अपनी आँखें फोड़ ली थी। यह भी कहा जाता है कि अपनी अंधावस्था में एक बार एक कुएँ में गिर गए थे और छै रोज तक वहीं पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला तो ये समझे कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने ही उनकी रक्षा की है, और इन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया। हाथ छुड़ा कर उसके भाग जाने पर इन्होंने विह्वल हो कर कहा—

> बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहिं।
> हिरदै सों जब जाइहौ, सबल बखानौ तोहिं॥

यद्यपि सूरदासजी के रचे हुए पाँच ग्रंथ बताये जाते हैं, तथापि इनकी जो कीर्ति है वह 'सूरसागर' के एक विशेष भाग के ही कारण। सब ग्रंथ इनके उपलब्ध भी नहीं हैं। 'सूर-सागर', कहा जाता है, सूरदासजी के सवा लाख पदों का संग्रह है। परंतु इस समय पूरे 'सूरसागर' का चतुर्थांश भी उपलब्ध नहीं है।

सूरसागर के पदों का आधार श्रीमद्भागवत का विषय है। सूरसागर के दशम स्कंध में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। सूरदास जी कृष्ण के अनन्य भक्त थे और, इस प्रकार, सगुणोपासना के पक्षपाती थे। निर्गुण को इन्होंने शायद अस्वी-

कार तो नहीं किया है परन्तु निर्गुणोपासना को अवश्य बेकार, और एक प्रकार से अर्थहीन, बतलाया है। गोपी-उद्धव-संवाद मे गोपियो के तर्क और उपालंभ आदि द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ण सिद्धि सूरदास ने की है, यहाँ तक कि अन्त मे निर्गुण ज्ञान के अहंकारी उद्धव तक को सगुण प्रेमभक्ति का उपासक बना दिया है। सिद्धान्तरूप मे स्वयं अपने बारे मे उन्होने यह कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस, अतरगत ही भावै।
मन-बानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै॥
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै।
सब बिधि अगम विचारहि, ताते सूर सगुन पद गावै॥

कृष्ण इनके जगदीश हैं, त्रिभुवनपति हैं, ब्रह्म हैं। तुलसीदासजी की तरह इन्होंने भी अपने पदों मे अनेक स्थानों पर लीला-वर्णन करते हुए अपने प्रभु की ईश्वरता की याद दिलाई है, जैसे—

कोटि ब्रह्माड करत छिन भीतर
हरत बिलंब न लावै।
ताको लिए नद की रानी,
नाना रूप खिलावै॥

अपनी कृष्णभक्ति की एकतानता मे सूरदास और किसी देवता की परवाह नहीं करते। मूलरूप मे कृष्ण और राम के अभेद के कारण राम का इन्होंने कतिपय पदों मे अवश्य चरित्र-वर्णन किया है। परन्तु जिस तरह तुलसीदास ने कहीं-कही कृष्ण

की कीर्ति को गा कर भी राम को ही अपनाया उसी तरह सूर भी ब्रजवासी—केवल ब्रजवासी—कृष्ण ही के रूप पर मोहित हुए। अन्यथा तुलसीदास की भाँति दूसरे देवताओं की स्तुति करना तो दूर रहा, इन्होंने उनका नाम तक नहीं लिया, बल्कि एकाध स्थान पर तो यहाँ तक कह डाला—

और देव सब रक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूर और तुलसी मे इस विभिन्नता का कारण दोनों के दृष्टिकोण तथा उद्देश्यों का भेद हो सकता है। कहा जाता है कि तुलसी की भक्ति सेवक-भाव की थी और सूरदास की सखा-भाव की। यह स्वयं एक कारण कहा जा सकता है, क्योंकि सखा को सखा से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं होती। परन्तु सबसे बडा कारण तो शायद यह है कि सूरदास की भक्ति आशिक-मिजाजी के ढँग की थी, जिसमें प्रेमी को प्रेय के अतिरिक्त संसार मे और कुछ दीखता ही नहीं—सारा संसार जैसे उसके लिए है ही नहीं। सूर के कृष्ण विश्वभर और जगदीश आदि होते हुए भी विश्व की कम परवाह करते हैं। उधर तुलसी ने जिसे अपना उपास्य बनाया है वह यदि विश्व का सरक्षण, नियमन न करे तो उसका इस पृथ्वी पर आना ही व्यर्थ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण तो खिलाडी और मनोहर बालक हैं, जिनका माधुर्य ही उनके जन्म लेने का एक मात्र उद्देश्य है, परन्तु तुलसी के राम सचमुच विश्व के राजा हैं, जिनके यहाँ राजमर्यादा के अनुसार राज-दरबार भी सजता ही होगा। यही कारण है कि

सूर ने माधुर्य की बहती गंगा का सुधा-पान करने के लिए देवताओं को साक्षी बनाने की जरूरत नही समझी, परन्तु तुलसीदास के लिए दरबारियों को प्रसन्न रखना भी आवश्यक हो जाता है।

परन्तु, जैसा अभी कहा गया है, सूरदास को इस बात का भी बार-बार ध्यान आता है कि उनके कृष्ण परब्रह्म हैं। जब जब इस तरह की भावना का अतिरेक हो जाता है तब तब वे उनके सामने बड़े विनयावनत और दीन भी हो जाते हैं। उनके विनय के कोई कोई पद बड़े भावुकता-पूर्ण है। उनमे कभी वे उलाहना देते है, कभी अपने को पतितों का सरताज कहते हैं और कभी कृपा-दान पाकर कृतकृत्यता प्रकट करते है, यथा—

(क) कोटि जनम भ्रमि भ्रमि हम हारयो, हरिपद चित न लगायो।
और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा बिसरायो॥

(ख) सूर पतित तुम पतित-उधारन, गहौ बिरद की लाज॥

(ग) मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक-हरामी॥
भरि भरि उदर विषयन को धायो, जैसे सूकर ग्रामी॥
हरिजन छाँडि हरि-बिमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बडो है मो तैं, सब पतितन मे नामी।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी।

(घ) अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम-डरिया पारधि साँधे बान॥

याके डर भाज्यो चाहत हौं ऊपर ढुक्यो सचान ।
दुओ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान ॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी सर छूटे संधान ।
सूरदास सर लग्यो सचानहि जै जै कृपानिधान ॥

सखा-भाव की अन्यतम स्थिति मे दैन्य या विनय का इस प्रकार होना हमे विरोधी नही मालूम होता। प्रेमी भी अपने प्रेम-पात्र की निष्ठुरता से, अथवा किसी समय अपनी ही अयोग्यताओं की कल्पना करके, कातरतावश प्रेमपात्र के सामने इसी तरह दीन हो जा सकता है। वास्तव मे, हृदय के समस्त अगणित भावों मे इतनी संश्लिष्टता, इतनी एक-सूत्रता, है कि कब कौन भाव किसका सहचारी या संचारी बन जाता है, इसका जानना सर्वथा कठिन है। केवल मुख्य भाव को ही हम उसकी प्रधानता के कारण मुख्य रूप से देख सकते हैं। दृष्टिकोणों के भेद को देखने से ही वह देखा जाता है । यदि हम तुलसी मे सेव्य-सेवक भाव देखते हैं, तो इसीलिए, कि तुलसी की दृष्टि हमेशा राम के गौरव और प्रताप की ओर लगी रहती है। इससे भिन्न, सूर कृष्ण के रूप-माधुर्य और उनकी दिल-फ़रेब अदाओं पर ही लट्टू हैं। परन्तु दैन्य या विनय का संचरण सखा-संबंध या सेव्य-सेवक-संबंध, दोनों ही, मे, स्थिति स्थिति के अनुसार, होता रहना संभव है। सूरदास की भक्ति मे प्रेम और विरह की मात्रा अधिक है। विरहातुर प्रेमी (भक्त) की भाँति वे अपने प्रेमपात्र (उपास्य) की प्रत्येक छवि के प्रत्येक आवर्तन को, उसकी ज़रा

ज़रा सी चेष्टा को, ज़रा ज़रा से मनोभावों को, बड़ी उत्सुकता से आँखे लगा कर, देखते हैं। इसी लिए सूर-सागर वास्तव मे भावों और चित्रों का सागर है। थोड़े से काव्योदाहरण आगे चल कर दिए जाएँगे। उनसे इसका कुछ अनुमान हो सकेगा। यहाँ उनकी प्रेम-सबधी तथा भक्ति सबधी-कुछ उक्तियाँ देखने लायक है—

(क) सब रस को रस प्रेम है, विषयी खेलै सार।
तन, मन, धन, यौवन खिसे, तऊ न मानै हार॥

(ख) प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखिए, परत छाँड़ उर स्वाँस॥

(ग) जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार।
एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ 'सूर' गवाँर॥

(घ) प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर है जीये।
प्रेम बँधो संसार, प्रेम परमारथ लहिये॥

(ङ) एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि रे मिलैं गोपाल॥

अपनी भक्ति को इस भाँति प्रेम का रूप देकर सूरदास हिंदी-साहित्य मे भावुक-शिरोमणि बन कर अवतरित होते हैं। दूसरे प्रेम-मार्गी कवि जायसी में भी अत्यन्त भावुकता है, परतु उनका आलंबन लौकिक पक्ष में अनिर्दिष्ट होने के कारण वह जायसी में उन अवस्थाओं के सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति पैदा न कर सका जो जन-साधारण के हृदयों को, जीवन मे, रात दिन गुदगुदाया करती हैं

यह बात अवश्य है कि सूरदास का भावना-क्षेत्र परिमित है—वे सर्वांगीण जीवन के व्यापक क्षेत्र को लेकर हमारी भावनाओं को नहीं जगाते। परंतु इसमे सूर का अधिक दोप नही। प्रत्येक व्यक्ति का भावना-केन्द्र अपना-अपना होता है। यह भी जरूरी नही कि हर कोई सारे संसार को देखे ही। जरूरी केवल इतना ही है, कि जितना कोई कवि देखता है, उतना उसका दर्शन मनुष्य जीवन के किसी अंग से इस प्रकार संपर्क रखने वाला हो कि पढ़ने वाला उससे आनन्द उठा कर अनुपाततः अपना कुछ कल्याण भी कर सके।

फिर, ये महात्मा लोग अपने भाव मे ही, अपने ही उद्गार-सुख के लिए, लिखा करते थे। उन्हें किसी का कुछ देना नही था। पर हाँ, कुछ देना न होने पर भी, तुलसीदास और जायसी ने भाव-मग्नता से भी लिखा है और देने का भी भाव रक्खा है। तुलना करने पर सूरदास अवश्य कुछ पृथक्त्व-प्रिय अथवा स्वलीन प्रतीत होंगे। और इसके अतिरिक्त, जहाँ सूर ने देने के लिए लिखा भी है, वहाँ वे अपने कर्तव्य में असफल हुए हैं। उनके कूटपद और कृत्रिम उपमानादि की योजना पांडित्य अथवा चमत्कार-प्रदर्शनमात्र के लिए है और रसिकों के किसी काम की नहीं। अपना यह पांडित्य-प्रदर्शन तथा चमत्कार-कौतुक ही उनके लिए संसार को देने की चीज़ है। जिन लोगों को झूठमूठ सिर खुजलाते रहने का शौक़ है, वे उनकी इस प्रकार की रचनाओं से अनुरंजित हो सकते हैं, जैसे—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।

जुगुल कमल पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग ॥

हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग ।

रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग ॥

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग ।

खजन, धनुप, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग ॥

अग अग प्रति और और छबि, उपमा ताको करत न त्याग ।

सूरदास प्रिय पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बडभाग ॥

ऐसे पदों का अर्थ लगाने बैठने की अपेक्षा क्या लंबी चादर तानकर सो रहना अधिक अच्छा नही है ? इसी तरह रूप-वर्णन मे निम्न उदाहरण के उपमानों का क्या उपयोग है ?—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि, लटकनि भाल रुनाइ ।

सनि गुरु असुर देव गुरु मिलि मनु, भौम सहित समुदाइ ॥

परन्तु हमें तो उनकी भावमयी रचना से काम है जिसके कारण किसी ने उनको तुलसीदास जी से भी ऊँचा उठाकर 'सूर सूर तुलसी ससी' तक कह डाला है ।

सूर ब्रजवासी कृष्ण के उपासक थे । ब्रजवासी कृष्ण पहले तो हमे बालरूप मे दिखाई देते हैं और बाद मे, बडे होकर, गोपी-वल्लभ के रूप मे। अत सूरदास जी की भावुकता का केन्द्र भी कृष्ण की यही दो अवस्थाएँ हैं । सूरदास की भावुकता का रहस्य है इन दोनों अवस्थाओं का अति सूक्ष्म निरीक्षण—उन अवस्थाओं के छोटे से छोटे भाव्यस्थलों मे सूर की प्रवेश-सामर्थ्य । यह सामर्थ्य

दृग्गोचर होती है दो रूपों में—वस्तु-चित्रण और स्वभाव-चित्रण (अथवा मनोविज्ञान)। वस्तु-चित्रण के भी दो पक्ष हो जाते हैं (१) जहाँ किसी दृश्य का केवल नक्शा ही खड़ा किया गया हो और (२) जहाँ नक्शे के साथ ही साथ उससे सबद्ध भाव-व्यजन भी की गई हो। सूरदास के वस्तु-चित्रण में दूसरी बात ए. प्रधानता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बाल-स्वभाव को जितना इन्होंने पह चाना और याथातथ्य के साथ वर्णित किया है उतना शायद लोग भी नहीं कर सकते जो रात-दिन बालकों की क्रीड़ाएँ देख हैं। वास्तव में आश्चर्य होता है कि सूरदास, जन्माध होते हुए भ या यदि जन्माध नहीं थे तो बचपन से ही घर से बाहर साधु की संगति में रहते हुए, कहाँ से बालस्वभाव का इतना व्याप अध्ययन कर सके। सचमुच यदि उन्होंने बाल-चरित्र का विष लेकर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखा होता तो वह ससार भर के आ तक के गद्य और पद्य साहित्य में अद्वितीय होता। यह अनुमान एकद भ्रान्त न होगा कि कृष्ण के बालरूप की एकनिष्ठ भक्ति ने उ. भगवान् के उस रूप को देखने के लिए एक दिव्य दृष्टि दे दी थी

कृष्ण अभी बिलकुल छोटे ही हैं। यशोदा लोरी गा-गा उन्हें सुलाने की चेष्टा कर रही है। नीचे दिये गये पद्य में वह दृ सामने आ जाता है—

> यशोदा हरि पालने झुलावै।
> हलरावै दुलरावै मल्हावै जोइ सोई कछु गावै॥

मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगी सो आवै तोकों कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत है कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मोन ह्वै ह्वै रही, कर कर सेन बतावै॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंदभामिनि पावै॥

जब कृष्ण कुछ बड़े होगए तो—

गहे अँगुरिया तात को नंद चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत है कर टेकि उठावत॥
बार बार बकि स्याम सों कछु बोल बकावत।
दुहुँधा दोउ दतुली भई अति मुख छबि पावत॥
कबहुँ कान्ह कर छाँडि नंद पग द्वै करि धावत।
कबहुँ धरणि पै बैठि के मन महँ कछु गावत॥
कबहुँ उलटि चलैं धाम को घुटरुन करि धावत।
सूर स्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत॥

मक्खन कृष्ण को विशेषत प्रिय था। सो—

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछु खावत कछु धरनि गिरावत, छबि निरखत नँदरनियाँ॥
डारत, खात, लेत आपन कर, रुचि मानत दधि दनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत, सो सुख कहत न बनियाँ॥

जरा और बड़े हुए तो उन्हें फ़िक्र होने लगती है कि उनकी

चोटी अभी तक नहीं बढ़ी। बलदाऊ की चोटी तो खूब लंबी और मोटी है। अत माता को उपालंभ दिया जा रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किसक बार मोहि दूध पियत भइ यह अबहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत ओछत नागिन सी भ्वै लोटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी॥

अब कृष्ण खेलने जाने लगे हैं। बलदाऊ तथा ग्वाल बाल उन्हें चिढ़ाया करते हैं। कृष्ण की शिकायत मे रीस, उपालभ, भोलापन और साथ-साथ माता का प्रेम-गद्गद् होकर सान्त्वना देना, इस एक पद मे एक ही साथ देखने को मिलते हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हो, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हूँ नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब, सिखे देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

माखन-चोरी सीख लेने पर दोषगोपन के लिए कुछ जरा सी 'धूर्तता' भी सीख लेना स्वाभाविक ही है। इस 'धूर्तता' मे कई कई बाल-मनोभाव आकर सम्मिलित हो गए है। बाल-चातुरी का एक अच्छा सा नमूना यह है—

मैया मेरी, मैं नहि माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पाछे मधुबन मोहिं पठायो॥
चार पहर बसीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो।
मै बालक बहियन को छोटो छीको किस बिध पायो॥
ग्वालबाल सब बैर पर हैं, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतिआयो॥
जिय तेरे कछु भेद उपजहे जान परायो जायो।
यह ले अपना लकुट कमरिया बहुताह नाच नचायो॥
सूरदास तब बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो॥

इसके बाद जब चोरी की आदत अधिक बढ़ गई, तो केवल अपने घर मे ही नही, बाहर, ग्वालिनों के घर जाकर भी मक्खन चुराने लगे। ग्वालिनियाँ आ-आ कर यशोदा से शिकायत किया करती थी। पर जब यशोदा ने एक दिन क्रोध करके कृष्ण को उलूखल से बाँध दिया तो वही ग्वालिनियाँ आकर कृष्ण का पक्ष लेती है। इसके साथ ही साथ, निम्नोद्धृत पद मे बँधे हुए पुत्र और बाँधने वाली माता के भाव भी दर्शनीय हैं—

देखो माई कान्ह हिचकियन रोवै।
तनक मुखहिं माखन लपटान्यो डरनि ते अँसुवन धोवै॥

माखन लागि उलूखल बाँध्यो सकल लोग ब्रज जोवे ।
निरखि कुरख उन बालन की दिसि लाजन अँखियन धोवे ॥
ग्वालिन कहैं या गोरस कारन कत सुत की पति खोवे ।
आनि देहिं हम अपने घर ते चाहत जितक जसोवे ॥
जब जब बन्धन छोर्‌यो चाहति, सूर कहै "यह को वे" ।
मन माधव तन चित गोरस मे इहि विधि महरि बिलोवे ॥

इस प्रकार बाल्यावस्था से संबध रखनेवाली एक एक स्थिति, एक एक मनोभाव, का सूर ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है, जिसमे नायक कृष्ण के साथ ही साथ माता-पिता, सखा-साथी तथा ब्रज-गोपियो का भी यथोचित चित्रण हुआ है। परन्तु बाल्योत्तर अवस्था के वर्णनो मे जो मनो विज्ञान दिखाई देता है वह एक-देशीय है। कृष्ण गोपियो के प्रेय हैं और गोपिकाएँ प्रेमिका। पर सूरदास के नायक तो कृष्ण ही है। तथापि हम देखते है कि कृष्ण की मानसिक अवस्थाओ का इतना अधिक चित्रण नही किया गया जितना गोपियों की अवस्थाओं का—क्या तो संभोग शृगार मे, और क्या विप्रलभ शृगार मे ही। दूसरी बात यह है कि उत्कृष्टता की दृष्टि से विप्रलभ का वर्णन ही अधिक श्रेष्ठ है। सूरसागर मे भ्रमरगीत वाला अंश एक अद्भुत, अनमोल, हीरा है। कृष्ण के मथुरा जा कर वहीं बस रहने के बाद ब्रज की गोपिकाओं को जो विरह-वेदना होती है उस मे उद्धव का आकर उनको निर्गुण-ज्ञान सिखाना उनके लिए कटे पर नमक का काम करता है। भ्रमर-गीत मे गोपियाँ एक उडते हुए भौंरे को सबोधित कर उद्धव को

खूब उलटी-सीधी सुनाती है और उन के निर्गुणज्ञान की खूब किरकिरी करती है।

सूरदास के विप्रलभ-वर्णन मे सभोग की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष का होना स्वाभाविक भी है। सूरदास स्वय ही कृष्ण के विरही प्रेमी हैं, चिर-विरही हैं, और गोपिकाओ की पीडा वस्तुत उनकी अपनी ही पीडा है। गोपिकाओं के रूप मे हम उन्ही की वाणी सुनते हैं। वही, यथार्थ मे, नीरस निर्गुण-पंथियों के प्रतिनिधि उद्धव से भी अपनी समस्त हृदयवृत्ति के साथ उलझ रहे हैं। अपनी भावमग्नता मे आगे चल कर कल्पनाद्वारा वे यह भी देख लेते है कि उद्धव को उन्होंने हरा दिया है और उद्धव भी 'नए मुसलमान' बन कर, प्रेम के रंग मे अपने को पूरी तरह डुबा कर, कृष्ण की विहारभूमि के एक एक क्रीडास्थल मे मतवाले बनकर नाचते फिर रहे हैं।

परन्तु सभोग-शृगार उत्कृष्ट होते हुए भी भ्रमरगीत की टक्कर का क्यों नही हुआ? क्योंकि वह तो सूर की केवल कल्पना की ही चीज है, वास्तविक तो है नहीं। चिर-विरही होने के नाते वे कभी कभी आशा के उल्लास मे अपने प्रभु की दयादृष्टि का मानसिक अनुभव अवश्य करते होंगे। यह मानसिक अनुभव ही उनके संभोग-वर्णन का आधार समझा जा सकता है। परन्तु विरह का अनुभव मानसिक नही, वह वास्तविक है और निरन्तर है। और, गोपियो की निराशा के रूप मे, हम यह भी देखते हैं कि सूरदास विरह मे भी संतुष्ट ही हैं, क्योंकि विरह से भी प्रेम पुष्ट ही होता है। हाँ, यदि वात्सल्य के अन्तर्गत भी

हम किसी तरह संभोग और विप्रलंभ, दोनों, अवस्थाएँ मान सकें, तो हमें कहना ही पड़ेगा कि वहाँ सभोग की ही प्रधानता है तथा वहाँ का सभोग उत्तरावस्था के विप्रलभ से अधिक उत्कृष्ट हुआ है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सूर-साहित्य का परोक्ष नायक हम सूरदास को ही मान सकें तथा कृष्णचन्द्र को नायिक(।)? परोक्ष होने के कारण नायक, अवस्था अवस्था के अनुसार, भिन्न भिन्न रूपों में हमारे सामने आता है और अपनी नायिका के, जिसमें कोई लिंगभेद नहीं है, तरह तरह के हाव-भावों और आचरणों को देख कर भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों को आश्रय देता है। नायिका-स्थानीय से लिंग-भेद के ज्ञान का तिरोहित होना बिलकुल असंभव तो नहीं है, यथा नायिकास्थानीय जब पिता, पुत्र या माता अथवा शिशु हो और भाव, सूरदास की भाँति, एकमात्र भावना का प्रेम ही हो। और जब कि ईश्वर ही नायिकास्थानीय हो तब तो यह ज़रा भी असभव नहीं। कबीर का राम कभी उनके लिए पति होजाता है, कभी पिता और कभी माता। अस्तु, यदि किसी भी तरह सूर-काव्य के नायक-नायिका के संबंध में हम यह दृष्कोण बना सकें तो उस काव्य के भिन्न-भिन्न भागों की इन विषमताओं का हम ज्यादा अच्छी तरह अनुसरण कर सकेंगे।

सूरदास के संभोगशृंगार के विशेष स्थल हैं दानलीला, मुरली-माधुरी, रासलीला, चीरहरण आदि। ये वास्तव में पूर्वराग और तत्परवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। राधा के पूर्वराग का इस तरह वर्णन किया गया है—

चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति, कबहुँ बिहँसति, सकुचि बहुरि लजाइ।
मात-पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ॥

एक दूसरी गोपी कहती है—

जो बिधना अपबस करि पाउँ।
तौ सखि, कह्यौ होय कछु तेरो, अपनी साध पुराउँ॥
लोचन रोम रोम प्रति माँगौ, पुनि पुनि त्रास दिखाउँ।
इक टक रहैं, पलक नहि लागैं, पद्धति नई चलाउँ॥

कृष्ण नंद-महर के बेटे हैं। उन्होने वैसे भी व्रजवासियों की समय समय पर रक्षा की है। उनके अहसान काफी हैं। इसलिए कृष्ण गोपियों से दान, टैक्स, माँगते हैं। इस पर उभय पक्षो मे खूब चलती-चुभती बातें होती हैं। पर बातों ही बातो मे कृष्ण ने तो अपना प्राप्य ले भी लिया। तब गोपियो और कृष्ण मे यह बातचीत हुई—

"नन्दकुमार, कहा यह कीन्हो।
बूझत तुमहि कहौ धौं हमसों, दान लियो कि मन हर लीन्हो।
कछू दुराव नहीं हम राख्यौ, निकट तुम्हारे आईं।
एते पर तुमही अब जानौ, करनी भली बुराई॥"

"अब घर जाहु दान मैं पायो, लेखो कियो न जाइ।"

"तनहि पर है मनहि राजा, जोइ करै सो होइ।
कहौ घर हम जाहिं कैसे, मन धरयो तुम गोइ॥"

"अजहुँ कहौ, रहिहैं अनतहि, तुम अपनी मन लेहु।

अब पछितानी लोक-लाज डर, हमहि छाँडि न देहु ॥
घटती होइ जाहिते अपनी ताको कीजै त्याग ॥"

"तुमहि बिना मन धृक,अरु धृक घर, तुमहि बिना धृक धृक माता पितु ।
धृक कुल कानि और लाज डर
सूरदास प्रभु तुम बिन घर जो, बन भीतर के कूप ॥"

इस प्रकार हृदय-दान, पूर्ण आत्म-समर्पण, हो चुकने पर अब बाकी ही क्या रहा? परन्तु मुरली और भी ग़ज़ब ढाती है। ब्रज-बालाओं को बेसुध करके उसने स्वय कृष्ण के प्रेम पर अधिकार जमा लिया है और हर समय उनके अधरों से लगी रहती है। वह गोपियों की सौत बन बैठी है—

अगन की सुधि भूल गई।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई ॥
जो जैसे सो तैसे ही रहि गई सुख दुख कह्यो न जाई।
लिखी चित्र की सी सब ह्वै गईं एकटक पल बिसराई ॥
काहू सुध काहू बुधि नाहीं सहज मुरलिका तान।
भवन भवन की सुधि न रही तनु सुनत सबद वह कान ॥
सखियन तें मुरली अति प्यारी वे बैरिन यह सौत।
सूर परस्पर कहत गोपिका यह उपजी उदभौत ॥

अनुमान किया जा सकता है कि जिन गोपियों का कृष्ण से ऐसा प्रेम था उनकी कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद क्या हालत हुई होगी। यहाँ दशा-क्रम के अनुसार सूर के विप्रलभ श्रृंगार के कुछ उदाहरण दिए जाते है। अलग अलग उदाहरणों का सौंदर्य-विवेचन

तो नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि सूर के एक एक पद पर एक एक लेख लिखा जा सकता है, परन्तु सूरदास के अधिकांश पद स्वयं ही बोलते हैं। सुनने वाले में केवल थोड़ी सी भावुकता होनी चाहिए।

इनमें से पहला यशोदा की दशा का वर्णन करता है तथा दूसरे में यशोदा का देवकी के लिए करुणापूर्ण संदेश है। शेष उदाहरण गोपियों के विरह तथा गोपी-उद्धव संवाद से लिए गए हैं।

(क) मानौं हौं ऐसे ही मरि जैहौं।

इहि आँगन गोपाल लाल को कबहुँक कनियाँ लैहौं॥
कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कब वैसो सचुपैहौं।
कब मोपे माखन माँगैगो, कब रोटी धरि दैहौं॥
मिलन आस तनु प्रान रहत हैं, दिन दस मारग चैहौं।
जो न सूर कान्ह अइहैं तौ, जाइ जमुन धँसि जैहौं॥

(ख) सँदेसो देवकी सों कहियो।

हौं तौ धाय तिहारे सुत की, मया करत नित रहियो।
जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोहि कहि आवै॥
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि, माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भग जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि करि न्हाते॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बढ़ो रहत उर सोच।
मेरो अलख लडैतो मोहन, ह्वै है करत सँकोच॥

(ग) बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैन की परतीति गई।

उठि न गई हरि संग तबहिं ते ह्वै न गई सखि स्याम मयी॥

रूप रसिक लालची कहावत सो करनी कछु पै न भई।
साँचे कूर कुटिल ए लोचन व्यथा मीन छबि छीन लई॥
अब काहे जल सोचत मोचत समै गए तें सूल नई।
सूरदास याही ते जड भए इन पलकन मिलि दगा दई॥

(घ) बिन गोपाल बेरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुंजैं॥
ए ऊधो कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बैरन ज्यों गुंजैं॥

(ङ) सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जे कोइ पथिक गए हैं ह्याँ ते फिर नहि गवन करे॥
कै वे श्याम सिखाय समोधे कै वे बीच मरे।
अपने नहि पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो पलक कपाट अरे॥

(च) ऊधो जो तुम हमहि सुनायो।
सो हम निपट कठिनई हठि कै या मन को समुझायो॥
जुगुति जतन बहु हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौ लायो।
भटकि फिरयो बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो॥
अब वैसी उपाय उपदेसौ जिहि जिय जात जियायो।
एक बार जो मिलहि सूर प्रभु कीजै अपनी भायो॥

(छ) मधुकर कान्ह कही नहि होही ।

कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही ॥

सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातें चकचोही ।

स्याम सुगाहक पाय सखी री छार दिखायो मोही ॥

नागरमनि जे सोभासागर जग जुवती हँसि मोही ।

लियो रूप दै ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही ॥

है निरगुन कुबरी सरवरि अब घटी करी हम जोही ।

सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहि आज सब सोही ॥

(ज) ऊधो तुम अपनो जतन करौ ।

हित की कहत कुहित की लागै किन बेकाज ररौ ॥

जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत है जी की ।

कछु कहत कछुवै कहि डारत, धुनि देखियत नहिं नीकी ॥

साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुमसों मानी हारि ।

याही तै तुम्हैं नँदनन्दन जू यहाँ पठाए टारि ॥

मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यो है तन रोग ।

सूर सुबैद बेगि किन ढूँढौ भए अर्द्धजल जोग ॥

(झ) रहि रे मधुकर मधु मतवारे ।

कहा करौं निरगुन लेकै हौं, जीवहु कान्ह हमारे ॥

लोटत नीच पराग पंक में पचत न आपु सम्हारे ।

बारम्बार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे ॥

तुम जानत हम हू वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे ।

घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे ॥

सुन्दर श्याम कमलदल-लोचन जसुमति नन्द दुलारे।
सूर स्याम को सरबसु अर्पौ अब कापै हम लेहि उधारे ॥

वास्तव मे सूरदास की रसात्मकता के यथेष्ठ उदाहरण दे सकना परम कठिन कार्य है। यह निश्चय करना ही कठिन हो जाता है कि किस पद को उद्धृत किया जाए और किसे छोड़ा जाए। प्रत्येक पद ही किसी न किसी भावभगी का प्रकाशक है। 'अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य' और कही न मिलेगा जितना सूरदास मे। अनुभावों और सचारियो के ऐसे व्यापार मे ही सूरदास जी की भावुकता का प्रसाद दृष्टिगोचर होता है—उसमे वर्णनकर्म का उत्तरदायित्व इतना व्यापक नही है। सूरदास के स्थिर चित्रों के वर्णनो मे प्राय परपरागत उपमानों के प्रयोग तथा बार-बार उन्ही की आवृत्ति ने किसी विशेष भावव्यञ्जना को सहायता नहीं पहुँचाई। कृष्ण के रूप-वर्णन मे गुरु, कुज, शनि आदि को अथवा फिर चन्द्र, कमल, मृग, मीन, कीर, खंजन आदि को देखते-देखते कभी कभी तो जी ऊब जाता है।

भावुकता के अतिरिक्त सूर के काव्य मे एक और मनोहर लक्षण भी मिलेगा, जो अन्ततः भावुकता से ही सबंध रखता हुआ भी, एक भिन्नगण्य तत्त्व है। वह लक्षण है 'वाग्वैदग्ध्य' या वाणी की चातुरी। कृष्ण और राधा के प्रथम मिलन की बातचीत मे यह लक्षण अपने सरल मनोमोहक रूप मे देखा जा सकता है। कृष्ण राधा को एक दिन यमुनातट पर पहली ही बार देख कर उस पर तत्काल रीझ गए हैं। उस समय—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहत आपनि पौरी।
सुनति रहति स्रवनन नँदढोटा करत रहत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

एक छोटा सा उदाहरण यह भी है—

ऊधो, मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को अवराधै ईस॥

तानाजनी अथवा व्यंग्योक्ति के कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) भए हरि मधुपुरी राजा बड़े बंस कहाय।
सूत मागध बदत बिरदहि बरनि बसुधो तात।
राजभूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात॥

(ख) कै तुम सिखै पठाए कुबजा, कही स्याम घन जू धौं।
बेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ जुवतिन जोग कहूँ धौं॥
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गयो लै, ब्याज निबेरत ऊधौ।

(ग) सखी री स्याम कहा हितु जानै।
सूरदास सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै॥

(घ) अपनी ज्ञान-कथा ए ऊधो मथुरा ही लै जाउ।
नागरि नारि भली समुझैंगी तेरो बचन बनाउ॥

सूरदास ने अलकारों की भी खूब योजना की है उत्प्रेक्षा और रूपक इनके दो अति प्रिय अलकार हैं। जिन स्थलों मे इन्होने अलकार का प्रयोग केवल अलंकार अथवा पाडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है, उन स्थलों को छोड कर अन्यत्र उनके अलकार भावाभिव्यक्ति मे पूर्ण सहायक हुए है, यथा—

१ हमको सपने हू में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नँदनदन ता दिन ते यह पोच ॥
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि कर भुजा गही।
कहा करौं बैरिन भइ निंदिया, निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कै आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि।

२ भृकुटि बिकट नयन अति चचल,यह छबि पर उपमा इक धावत।
धनुप देखि खंजन जिमि डरपत,नाहिं सकत उठिबे अकुलावत ॥

कभी कभी अलकार केवल अलंकार रूप मे प्रयुक्त होता हुआ भी सात्विक कल्पना के चमत्कार का सुख देने वाला बना है, जैसे --

फटिक भूमि पर कर पग छाया यह शोभा अति राजति।
करि करि प्रति पद पद प्रति मनो बसुधा कमलबैठिकी साजति ॥

सूरदास की भाषा साधारण बोलचाल की ब्रजभाषा है, परन्तु फिर भी उसमें साहित्यिक भाषा का चमत्कार मौजूद है। उनकी भाषा मे माधुर्यगुण तो सर्वत्र ही है। बहुत से ऊबड खाबड समस्त पद या संयुक्ताक्षरों की खटखटाहट उसमे दृष्टिगोचर नही होती। तथापि एक दोष उसमे बडा ज़बरदस्त है, सूरदास की भाषा मे

लापरवाही बहुत ज्यादा दिखाई देती है। उन्होंने तुक के लिए प्राय. अपने शब्दो को जगह जगह बनाया-बिगाडा है तथा कही-कही पर व्याकरण की अशुद्धियाँ भी कर दी हैं। गति के लिए "सु" और "जु" के भी निरर्थक प्रयोग किए हैं। कही कहीं उन्होने अरबी-फारसी आदि भाषाओ के शब्दों का प्रयोग भी, उन्हे अपने साँचे मे ढाल कर, कर दिया है।

सूर का काव्य गीतिकाव्य है। तरह तरह की राग-रागिनियो मे ही इसकी रचना हुई है। हिन्दी मे अन्य अनेक कवियो की भ(गीति-रचनाएँ मौजूद है, परन्तु जितने लोकप्रिय इनके (तथा मीराबाई के) पद हैं उतने अन्य किसी के नही। सगीतप्रिय लोगो की तो वे सपत्ति है। इसका कारण, जैसा कि हम कह आए हैं, इन पदो की गहरी भावुकता, भक्तिप्राणता तथा मधुरता है। भक्ति की दृष्टि से तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के भी बहुत से पद लोगों की जबान पर रहते हैं।

इस प्रसग मे इतना और सकेत कर देना उचित मालूम होता है कि हिन्दी साहित्य मे, बहुत समय पहले से ही, सूर और तुलसी के काव्य लोगों की तुलनात्मक बुद्धि को उत्तेजित करते रहे हैं, और शायद आगे भी करते रहेगे। किन्ही भी दो कवियो के काव्य की तुलना करते समय उनके निजी व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझ लेना उपयोगी होता है। इस पुस्तक मे सूरदास और तुलसीदास पर उपस्थित किए गए दोनों लेखों से, संभव है, इन महाकवियों के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण का कुछ

आभास मिल सके। दृष्टिकोण का समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भावात्मकता के साथ ही साथ 'कलात्मकता'-संबंधी बहुत से प्रश्नों का भी आप ही आप समाधान हो जाता है। कई आचार्यों ने काव्य मे 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' नाम के दो अलग अलग पक्ष स्वीकार किए हैं। हमारी समझ मे पक्षों का यह वर्गीकरण कुछ कृत्रिम सा है। काव्य मे भावुकता और कलात्मकता दो भिन्न वस्तुएँ नही हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी कब पैदा हुए, इनके माता पिता कौन थे और क्या करते थे तथा ये कहाँ के रहने वाले थे, आदि बातों का पता अभी तक विद्वानो को नही लगा। स्वयं जायसी के कथन से इतना मालूम होता है कि ये शेरशाह के समय मे थे। इन्होंने अपनी पदमावत के आरभ मे शेरशाह की प्रशंसा की है और ग्रंथारभ का समय सन् ९४७ हिजरी (संवत् १५९७) बताया है, जो कि शेरशाह का समय था। पदमावत आरंभ करने के कुछ समय बाद ये जायस में आकर रहने लगे थे।—'जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।' बचपन मे चेचक निकलने के कारण इनकी एक आँख जाती रही थी। ये फकीर थे।

इनके लिखे हुए दो ग्रंथ 'पदमावत' और 'अखरावट' हैं। अखरावट तो एक छोटी सी पुस्तिका है, जिसमे सिद्धान्त सबधी बाते है। महाकवियो मे इनका स्थान पदमावत के कारण है। पदमावत फारसी मसनवियो के ढग पर अवधी भाषा मे लिखी गई एक लबी चौडी प्रेम-कहानी है। इसके पहले इसी तरह की चार-पाँच और प्रेम-कहानियाँ भी लिखी जा चुकी थी, जिनका उल्लेख जायसी ने अपने ग्रंथ मे किया है।

संक्षेप मे पद्मावत की कथा इस प्रकार है—

सिंहल के राजा गंधर्वसेन की लडकी पद्मावती जब जवान हुई तो उसे काम सताने लगा। परन्तु उसका पिता प्रताप और ऐश्वर्य मे अपने समान किसी को न देखकर उसका विवाह न करता था। तब पद्मावती के तोते हीरामन ने उसके लिए वर ढूँढने की प्रतिज्ञा की और एक रोज मौका देखकर वह उड गया। जगल मे वह एक चिडीमार के हाथ मे पड गया, जो उसे बेचने के लिए बाजार मे ले आया। यहाँ चित्तौडगढ से आए हुए एक ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया। जब ब्राह्मण वापिस चित्तौडगढ पहुँचा तो वहाँ के राजा रतनसेन ने तोते के गुणों पर रीझ कर उसे ब्राह्मण से मोल ले लिया।

एक दिन रतनसेन की रानी नागमती से तोता पद्मावती के अद्वितीय सौंदर्य की चर्चा कर बैठा। रानी को आशंका हुई कि कही वह राजा से भी पद्मावती के रूप की प्रशंसा न कर दे और उसने शुक को मार देने के लिए अपनी धाय को आज्ञा दी। पर धाय ने शुक को छिपा रक्खा।

राजा को जब रानी के काम का पता लगा तो उसने रानी से तोता या तोते के बदले में उसके प्राण माँगे। राजा को जब तोता मिल गया तो तोते ने उससे सच-सच बात कह दी और इस प्रसंग मे पद्मावती के रूप की खूब प्रशंसा की। बस, राजा तो बेसुध हो गया और फिर योगी होकर पद्मावती के लिए निकल पडा। बडे कष्ट के साथ सात समुद्रों को पार कर अपने साथियों सहित वह सिंहल

पहुँचा। शुक से समाचार पाकर पदमावती ने राजा के पास सँदेशा भिजवाया कि वसन्त पञ्चमी को वह महादेव जी के मंदिर में आकर उससे मिलेगी।

पर जब पदमावती शिवजी की पूजा करने पहुँची तो उसे देखते ही राजा मूर्च्छित हो गया। पदमावती वापिस चली गई। राजा को जब होश हुआ और उसने पदमावती को न देखा तो वह जान देने पर उतारू हो गया। तब पार्वती जी ने महादेव जी से उसकी रक्षा करने की प्रार्थना की और महादेव जी ने सिद्धगुटिका देकर राजा को गढ पर चढने का आदेश दिया। राजा ने साथियों सहित गढ को जा घेरा। अन्तत सब के सब पकड लिए गए और राजा को सूली पर चढाने की आज्ञा हुई। पर महादेव जी ने फिर सहायता की और गंधर्वसेन को रतनसेन का वास्तविक परिचय मिलने पर उसने पदमावती के साथ उसका विवाह कर दिया।

इस बीच मे नागमती, विरह से व्याकुल, रोती फिरती थी। एक पक्षी उसका विलाप सुनकर सिंहल गया और उसने राजा से विरहिणी का हाल कहा, जिसे सुन राजा ने अपने देश को लौटने का इरादा किया। गंधर्वसेन ने बहुत धन देकर उसकी विदा की। वापिस समुद्र-यात्रा मे रतनसेन तूफान आ जाने के कारण पदमावती से वियुक्त हो गया। यहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की सहायता से दोनों पुनः एक दूसरे से मिल गए और समुद्र से पाँच विशेष पदार्थ भेंट मे पाकर सकुशल चित्तौडगढ पहुँचे।

यहाँ आकर राजा ने अपने एक दुष्ट सभासद् राघवचेतन को

देश-निकाला दे दिया। राघन दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन क पास पहुँचा और उसने पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन कर बादशाह को चित्तौड पर चढ़ाई करने के लिए प्रेरित किया। परंतु बादशाह आठ वर्ष तक घेरा डाले रहकर भी चित्तौड़ को सर न कर सका। तब वह झूठी सधि करके और राजा के महल मे भोज के अवसर पर पद्मावती की दर्पणागत छाया देखकर राजा को धोखे से कैद करके दिल्ली ले गया।

इस अवसर पर राजा के दो सरदार, गोरा और बादल, सहायक हुए। सोलह सौ बद पालकियों में सशस्त्र सैनिकों को बिठा कर वे दिल्ली पहुँचे और उन्होंने बादशाह को सूचना दी कि पदमावती अपनी दासियों सहित बादशाह के रनिवास मे रहने को आई है, परन्तु एक बार वह राजा से मिल लेना चाहती है। बादशाह की अनुमति मिल जाने पर रानी की पालकी राजा के कारागृह मे पहुची, परन्तु पालकी मे से रानी के बजाय एक लुहार निकला। लुहार ने राजा की बडियाँ काट दीं और तत्काल राजा घोड़े पर सवार होकर भाग निकला। अन्य पालकियों के सैनिक भी निकल आए। राजा सकुशल अपने राज्य मे पहुँच गया।

यहाँ आकर उसे कुभलनेर के राजा देवपाल से युद्ध करना पडा, क्योंकि रतनसेन की अनुपस्थिति मे देवपाल ने एक कुटनी द्वारा पद्मावती को बहकाने की चेष्टा की थी। इस युद्ध के परिणाम में रतनसेन और देवपाल दोनों ने प्राणों से हाथ धोये और नागमती तथा पद्मावती सती हो गई।

जायसी ने हमे बताया है कि यह सारी कथा अन्योक्ति के रूप मे है। ग्रथ मे अंत मे उन्होंने कहा है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिहल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। लेहु बूझि जो बूझै पारहु॥

इन पंक्तियों को हमे केवल इस बात के प्रमाण के लिए ही ग्रहण करना चाहिए कि पदमावती की प्रेमकथा मे पारमार्थिक तत्व का अध्यारोप है। सारी कथा जीवात्मा की परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल चेष्टा तथा दोनों के सम्मिलन की कहानी है। यदि हम जायसी की उपर्युक्त व्याख्या को इससे अधिक मात्रा मे स्वीकार करते है तो उनके रूपकागो के सबध के बारे मे कुछ सदेह उत्पन्न हो जाते है। क्योंकि, यदि पदमावती या पदमिनी बुद्धि का प्रतीक है तो रतनसेन की उसके लिए दौड, वास्तव मे, उस परम तत्व के लिए दौड नहीं है, जिसका केवल-प्रकाश इस चराचर सृष्टि के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। अथवा, फिर हम यह माने कि बुद्धि ही वह परम तत्व है। ब्रह्म को चिद्रूप समझते हुए ऐसा माना जा सकता है, और अद्वैत मत के संबंध से, जिसके अनुसार केवल माया ही एक बाधक तत्व है, ऐसा माना जाना सभव हो सकता है। परन्तु माया को मान लेने के बाद शैतान को भी (जिसका उल्लेख मुसलमानी और ईसाई धर्मों में किया गया है) मानने की जरूरत नहीं रहती। इसके

अतिरिक्त माया ब्रह्म को प्राप्त करने तक की अवस्थाओं में ही बाधक होती है, लेकिन 'पद्मावत' मे रतनसेन और पदमावती का मिलन हो जाने के पश्चात् अलाउद्दीन-रूपी माया अपना बखेड़ा खड़ा करती है। फिर, अद्वैत मत के अनुसार, मायालिप्त ब्रह्म का (जो शायद जायसी के उपर्युक्त रूपक मे मन कहा जा सकता है) मायायुक्त होना (अर्थात् अपनी शुद्ध ब्रह्मावस्था को प्राप्त करना) वस्तुत उस अवस्था को प्राप्त करना है जिसे हम बोलचाल की व्यापक भाषा मे 'मोक्ष' कहते है। ऐसी अवस्था मे रतनसेन का (और देवपाल का भी) पारस्परिक युद्ध मे मारे जाने का क्या अर्थ हो सकता है। पारमार्थिक पक्ष मे यह देवपाल कौन है और कहाँ से आया? यदि वह जिज्ञासु या मुमुक्षु के बचे-खुचे भ्रमों के रूप मे परिलक्षित होता है तो हमारी पहली आपत्ति फिर खड़ी होती है कि पदमावती रूपी बुद्धि चिदब्रह्म नही है, वह केवल ब्रह्म को प्राप्त करने मे ज्ञान रूप साधन है। इस दृष्टिकोण को लेते हुए यह भ्रम स्वाभाविक हो जाता है कि देवपाल-रूपी कोई तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मन और बुद्धि को नष्ट कर दे सकता है। मन (अर्थात् अहंकार और तत्स्वरूप सकल्प-विकल्प) का नष्ट हो जाना तो ठीक है—और हम यह भी देखते हैं कि रतनसेन देवपाल को मारने के बाद मरता है—परन्तु पदमावती रूपी बुद्धि या ज्ञान का नष्ट हो जाना (सती होना) समझ मे नही आता। अथवा, क्या 'सती' शब्द श्लिष्ट है। यदि 'सती' सद्रूप कैवल्य-ज्ञान का प्रतीक मान लिया जाय तो इस अविद्यारूप प्रपञ्च से मुक्त होने वाले मन के साथ उसका जाना ठीक है।—

'औ जा गाँठि, कत, तुम्ह जोरी। आदि-अत लहि जाइ न छोरी।'
परतु ये शब्द नागमती और पद्मावती दोनों ही के सती होते समय के शब्द हैं। और, नागमती को भी सत्य पर स्थित सती कहा गया है—'दुवौ महा सत सती बखानी', और नागमती 'यह दुनिया-धधा' के रूप मे प्रपंच भी है। यदि नागमती के सहगमन का समाधान किसी प्रकार हो जाए, और यदि थोडी देर के लिए रतनसेन से सूक्ष्म की प्रतीकता को हम हटा दे, तो यह कहा जा सकता है कि रतनसेन देही साधक है और पद्मावती साध्य। उस समय साधक द्वारा साध्य की प्राप्ति हो जाने के पश्चात्, साधक के भौतिक-शरीर-त्याग के रूप मे, हम देवपाल-तत्त्व का समाधान कर सकते हैं।

हमारा अभिप्राय जायसी की विचार-परपरा अथवा भाव-परंपरा से विवाद करने का नही है। वस्तुत. विवाद करने की जायसी मे कोई गुंजाइश नहीं, क्योकि हमारी धारणा है कि काव्य मे शुद्ध अद्वैत कहीं मिल ही नही सकता।* शुद्ध ज्ञान निवृत्तिरूप

---

*कबीर की समीक्षा में जो थोडा सा विवाद उठाया गया था वह कबीर के उलझे हुए व्यक्तित्व के कारण। कबीर और जायसी में आकाश-पाताल का अन्तर है। कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व में कवि नहीं हैं, वे एक विचारक हैं और, अपने विचारों में भ्रांत होते हुए भी, उन्हें अपने विचारकपद और ज्ञान का गर्व है, जैसा कि केवल निराकार को माननेवाले आजकल के बहुत से प्लैटफ़ार्म-प्रचारकों में देखा जाता है।

होने के कारण उसके साथ काव्य की प्रवृत्तिमूला भावसंसृति का रहना असंभव है। शुद्ध ज्ञान जीवन्मुक्त का ही होता है और उसकी कल्पना जीवन्मुक्त हुए बिना नहीं की जा सकती—केवल परिभाषाओं को पकड़ कर यह कहा जा सकता है कि वह असप्रज्ञात समाधि की सच्चिदानन्दमयी अवस्था है। जीवन्मुक्त चौबीस घंटे—जागता, कर्म करता, हुआ भी—समाधिस्थ रहता है। जीवन्मुक्त की अवस्था में सत्, चित और आनन्द का भी विभेद नहीं रहता और जीवन्मुक्त स्वयं सब प्रकार की उपाधियों से विहीन, 'निर्गुण', हो जाता है। इससे पहले की अवस्थाओ मे, कम या अधिक परिमाण मे, ज्ञान की पिपासा रहती है, जो स्वयं एक प्रवृत्ति है, और इस प्रकार सगुणात्मिका है। अद्वैतवाद मे माया-ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म का ऐकात्म्य सिद्धान्त है—ब्रह्म को प्राप्त करने या उस तक तक पहुँचने का सवाल ही नहीं—तथा प्रकृति के नामरूप 'अविद्या' अथवा माया हैं, और तिरस्करणीय हैं। परन्तु जायसी की सृष्टि सौंदर्यमयी है, क्योंकि वह नाना रूपों मे उस

परन्तु जायसी अपने पूर्णरूप में कवि और भावक हैं और—विचारक वे उतने और उसी तरह के हैं जैसे कि संसार के कर्म करने वाले कितने ही सरल प्राणी हुआ करते हैं। यदि हम लोग ही अपने जीवनों में टटोलें तो हमको कोई कोई ऐसे पल दिखाई देंगे जब कि हमने सात्विक दृष्टि से ब्रह्म या ईश्वर को जानने की इच्छा की होगी और अपने मन में कहा होगा कि ईश्वर को छोड़ कर और सब कुछ निःसार है।

परम ज्योति का ही प्रकाश है,—वह अपनी किसी अलग सत्ता के कारण सुन्दर नहीं। अतएव जायसी की उद्धृत चौपाइयाँ जायसी की पारमार्थिक प्रवृत्तियों की ही द्योतक हैं। वे 'पद्मावत' की कथा की वास्तविक व्याख्या नही हैं। इतना लिखने की आवश्यकता इसीलिए प्रतीत हुई कि वे (चौपाइयाँ) जायसी के काव्य का अभिप्राय ग्रहण कराने मे भ्रामक न हो जाएँ। क्योंकि यद्यपि तत्व-दृष्टि से जायसी 'अखरावट' मे यह कहते हैं कि—

पानी महँ बुला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिये, एकहि जात बिलाइ॥

तथापि अपने वास्तविक रूप मे वे प्रवृत्ति-प्रधान ही है। अपनी प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए उन्हे जहाँ कही भी, जैसे भी, अवसर मिला है वहाँ उन्होंने उसका उपयोग किया है। उद्धृत चौपाइयों मे सिद्धान्तरूप से यद्यपि उन्होने रतनसेन को मन (अथवा जीव) और पद्मावती को बुद्धि (अथवा ब्रह्म) माना है, तथापि, ग्रन्थ के भीतर, दोनो का मिलन हो जाने पर हम रतनसेन को पद्मावती से यह भी कहता हुआ सुनते हैं—

"अनु धनि, तू निसिअर निसि माहाँ। हौं दिनिअर जेहि के तू छाहाँ॥"

अतएव उनके काव्य का समुचित आस्वादन करते समय हमें ऊपर कही गई बात को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए।

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका मे पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"जायसी की उपासना माधुर्य-भाव से, प्रेमी और प्रिय के भाव से, है। उनका प्रियतम संसार के परदे के भीतर छिपा

हुआ है। जहाँ जिस रूप में उसका आभास कोई दिखाता है वहाँ उसी रूप में उसे देख वे गद्गद होते हैं। वे उसे पूर्णतया ज्ञेय या प्रमेय नहीं मानते। उन्हें यही दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक मत अपनी पहुँच के अनुसार, अपने मार्ग के अनुसार, उसका कुछ अंशत. वर्णन करता है।"

इसीलिए हम देखते है कि कबीर जी की भाँति जायसी ने दूसरे मतों का खंडन नही किया, बल्कि उनके प्रति किसी न किसी अश मे ग्राहिका रुचि ही प्रदर्शित की है। सर्व प्रथम, प्रथारंभ में, उन्होंने सृष्टि का लोक विश्वासानुसार वर्णन किया है। उसमे ईश्वर, जीव और संसार, ये तीन अलग अलग तत्व माने गये हैं, जो मुसलिम एकेश्वरवाद के अनुकूल है। यथा—"सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।" इसके बाद फिर वे सृष्ट संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों की गणना करते हैं जो कहीं तो हिंदुओं मे माने जाने वाले सृष्टि क्रम के अनुसार दिखाई देती है और कहीं मुसलमानों के सृष्टि क्रम के अनुसार। पदार्थ-गणना तथा उस ईश्वर के गुणानुवाद के बाद ही, फिर, जायसी इन सब पदार्थों को अस्वीकार करके एक दम अद्वैतवाद के सन्निकट पहुँचते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—"सबै नास्ति वह अहथिर।"

इसके तत्काल बाद ही मालूम होता है कि "परगट गुपुत सो सरब बिआपी" अथवा अन्यत्र "परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा सो नावँ।" यह वस्तुत. सूफियों के अभिव्यक्तिवाद का स्वरूप है। कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत के भी दर्शन हो जाते है जैसे "अखरावट" मे

"खा-खेलार जस है दुइ करा । उहै रूप आदम अवतरा।" इस अर्द्धाली मे आदम का जो जिक्र है, वह मुसलमानी और ईसाई मत के अनुसार है। आदम के बारे मे 'अखरावट' मे ही अन्यत्र अधिक स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "आपनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने।"

साधना-कर्म के लिए जायसी ने हठयोग की पद्धति का निम्न-लिखित रूपक मे उल्लेख किया है—

> दा दुक झाँकहु सातो खंडा। खडै खंड लखहु बरम्हडा।
> पहिल खड जो सनीचर नाऊँ। लखि न अँटकु, पौरी महँ ठाऊँ।
> दूसर खड बृहस्पति तहवाँ। काम-दुवार भोग-घर जहवाँ।
> तीसर खड जो मंगल जानहु। नाभि-कमल महँ ओहि अस्थानहु।
> चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई।
> पाँचवँ खड सुक्र उपराही। कठ माहँ औ जीभ-तराहीं।
> छठएँ खड बुद्ध कर बासा। दुइ भौहन्ह के बीच निवासा।
> सातवँ सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुआर।
> जो वह पँवरि उघारे, सो बड सिद्ध अपार॥

हठयोग की साधना के साथ जायसी ने 'पद्मावत' मे सूफी साधना की चार अवस्थाओं को भी मिलाया है—

> नवौ खड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
> चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥

पद्मावत को पढ़ने से मालूम होता है कि जायसी की विशेष प्रवृत्ति सूफ़ी मत की ओर ही थी। सूफ़ियों के अनुसार ईश्वर की

कल्पना बड़ी ही सौन्दर्यमयी और माधुर्यपूर्ण है और यह समस्त चराचर जगत् उस ईश्वर का ही प्रतिबिंब है। अतः सूफी महानुभाव जगत् के नाना पदार्थों और स्वरूपों को स्वाधीन सत्ता न मानते हुए भी उन्हें घृणा की वस्तु नहीं समझते, प्रत्युत वे उनमें भी परम ज्योति के ही प्रकाश और सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न करते हैं। परम ज्योति के संबंध से उनके इस प्रयास में कोमलता और मधुरता रहती है जो परम ज्योति के प्रति उनके प्रेम और विरह का अप्रस्तुत स्वरूप होती है।

यही स्वरूप रहस्यवाद का भी है। रहस्यवाद में भी, मनुष्य भौतिक रूपाकारों और दशाओं में किसी ईश्वरीय सत्ता या अभिप्राय को ढूँढा करता है। अतएव जायसी हमारे सामने रहस्यवादी कवि के नाते से भी उपस्थित होते हैं। उनका पद्मावत मसनवियों के ढँग का होने पर भी महाकाव्य है और भौतिक प्रेम-कहानी के बहाने, उसमें कवि के ईश्वर-संबन्धी उल्लास, प्रेम तथा विरह की मनोमुग्धकरी व्यंजना है। नीचे का दोहा जगत् के पदार्थों में उस परोक्ष सत्ता का प्रतिबिंब हेतु के रूप में देख रहा है—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥

संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों और जीवों में जो राग (या अनुराग) दिखाई देता है वह इसलिए कि सब कुछ उसी के रंग में रँगा हुआ है। निम्नलिखित चौपाइयों में कहा है—

सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता।
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती।

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते सब पखि पखेरू।
राती सती, अगिनि सब काया, गगन मेघ राते तेहि छाया।

हर किसी के एक ही तरह के रग मे रँगे होने का भी कुछ मर्म होता है। हाँ, हर कोई उसके रूप-बाण अथवा विरह-बाण से बिंधा हुआ है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ ससारा।
गगन नखत जो जाहि न गने। वै सब बान ओहि के हने।

इसीलिए सृष्टि में जो यह हलचल और दौड-धूप दिखाई देती है, सब उसी को पाने के लिए है—

चाँद सुरज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरहि सबाईं।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा।
अगिनि उठी, जरि बुझी बिआना। धुआँ उठा, उठि बीज बिलाना।
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ।

परन्तु वह किसी के भी हाथ नही आता। क्या विकलता के कारण सब को दिग्भ्रम होगया है, इसलिए? क्योंकि वह तो सब के भीतर ही विद्यमान है। और, भीतर ही विद्यमान होता हुआ भी नहीं मिलता, यह सब से बड़ा रोना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे, मिलाव, कहौं केहि रोई।

रहस्यवादी प्रवृत्ति के ये परोक्ष-संबधी लक्ष्य 'पद्मावत' मे स्थान-स्थान पर मिलते है और कथा-प्रसार मे वे प्राय: अप्रासंगिक या उखड़े हुए नही मालूम होते। अधिकतर रहस्यवादी भाव व्यंग्य ही हैं—पात्र या दृश्य के सौन्दर्य आदि की आड मे ही

सारतत्त्व के सौंदर्य आदि का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ, पारमार्थिक मूलतत्त्व के प्रतीक पात्ररूप में पदमावती, और कहीं-कहीं रत्नसेन, हैं। योगदृष्टि से 'नव पौरी बाँकी, नवखंडा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरह्मंडा' तथा 'दसवँ दुआरा' कह कर शारीरिक विभागों और ब्रह्मरन्ध्र का जो संकेत किया गया है वह प्रकृत-पक्ष में सिंहलगढ़ की दुर्गमता तथा ऊँचाई का वर्णन है, जिसमें 'बरम्हंडा' का अर्थ 'आकाश' है।

रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति हमें उन सब स्थानों में देखने को मिलेगी जहाँ किसी विशेष परिस्थिति या दृश्य से कवि एकदम प्रभावित हो उठता है और उसे उसके द्वारा ईश्वर की याद आजाती है। परन्तु यह समझना कि 'पदमावत' में सर्वत्र, पंक्ति पंक्ति में, रहस्यवाद ही रहस्यवाद है हमारी भूल होगा। लौकिक कथा की दृष्टि से लौकिक व्यवहार, कथा-संबंध तथा स्वाभाविकता के सामंजस्य के लिए कवि ने प्रकृत घटनाओं और व्यक्तिगत मनोवृत्तियों को सर्वत्र प्रोत्साहन दिया है जिनमें किसी आध्यात्मिक उद्देश्य को ढूँढना अप्रयोजनीय होगा। परन्तु यहाँ भी हम सूफ़ी और रहस्यवादी महात्मा की विशेषता को पूर्ण रूप से पाते हैं। ऐसे स्थलों में भी जायसी ने अपनी सरल सुभग सहानुभूति से काम लिया है।

मानवीय भावों तथा अवस्थाओं का सृष्टि के साथ सामंजस्य हमें जायसी में सर्वत्र मिलता है। बारहमासा-वर्णन और नखशिख वर्णन करने की काव्य में परिपाटी सी बनी हुई थी। बहुत से

कवियों ने इस परिपाटी का भाव-विहीन मूक परिपालन किया है। जायसी के पद्मावत मे भी बारहमासा-वर्णन और नखशिख-वर्णन आए है, पर वे परिपाटी का पालनमात्र न होकर उस सामंजस्य की ओर भावुकतापूर्ण दृष्टि रखते हैं जिसका अभी जिक्र किया गया है। उनका नागमती के विरह का वर्णन, जहाँ, एक ओर, नागमती के वेदना से भरे हुए हृदय का अति द्रावक चित्र है, वही, दूसरी ओर, वह शेष सृष्टि मे संवेदन-शक्ति और सहानुभूति को भी प्रतिष्ठित देखता है।

ऐसे स्थलों पर आई हुई प्रकृति मे हमको उसके अंतर्लीन चिद्भाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकृति के बाह्य दृश्य मानो मनुष्य के अंतर्जगत् के ही प्रतिबिंब हैं। इस दृष्टि से हम, यदि चाहें तो, जायसी के ऐसे वर्णनों मे 'छायावाद' की भी एक स्थूल परंतु मनोहर झलक देख सकते हैं। स्थूल' इसलिए कि वह प्रायः हेतुकल्पना अथवा स्पष्ट-कथन के रूप मे है। परतु साथ ही उसमे भावुकता की वह गहरी तह जमी रहती है जो आजकल की 'छायावादी' कहलाने वाली अधिकाश कविताओं मे देखने को नहीं मिलती। विरहिणी नागमती अपनी अवस्था कह रही है—

बरसै मेह, चुवहि नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा।

पद्मावती और नागमती मे जब सौतिया-लड़ाई होती है तो रतनसेन समझाता है—

एक बार जेइ पिय मन बूझा। सो दुसरे सौं काहे क जूझा।

धूप छाँह दूनौ एक रंगा। दूनौ मिले रहहिं एक संगा।

चित्तौडगढ को लौटते समय समुद्र मे तूफान आने के कारण अपने पति से बिछुडी हुई पद्मावती अपनी दशा का वर्णन करती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि के, लागौ केहि के डार॥

यदि इन उदाहरणों मे से इनके प्रसगों को हटा लिया जाय तो क्या ये पद्य मनुष्य-जीवन के किन्ही व्यापक सत्यो के प्रकृति-गत प्रतिबिंब नहीं दीखने लगेगे ?

जायसी बडे ही भावुक कवि थ। उनके रोम रोम मे जैसे भावुकता भरी हुई थी। साधारणतया यह देखने मे आएगा कि पद्मावत की पक्ति पक्ति मे से जेसे भावुकता फूटी पड रही हो। जायसी ने जहाँ कही विरह का वर्णन किया है वहाँ तो उन्होने मानो अपना हृदय ही निकाल कर रख दिया हो। नागमती का विरहवर्णन हिंदी साहित्य मे अद्वितीय है। यह सच है कि इसमे कहीं कहीं उन्होंने बहुत अधिक अत्युक्ति से काम लिया है, परंतु उनकी अत्युक्तियाँ अधिकतर वेदना की गंभीरता दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुई हैं, कल्पना की सरपट-चाल दिखाने के लिए नहीं, यथा—

जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ।
लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू।

मानवीय दशाओं के साथ प्रकृति की प्रतिसंवेदिता तथा उनसे उसके प्रभावित होने के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा।
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरुज जरा, चाँद जरि आधा।
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं।
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊ।
(ख) फिरि फिरि रोव, कोइ नहि डोला। आधी राति बिहंगम बोला।
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।

नागमती की विरहावस्था के वर्णन मे भावुकता अपनी चरम कोटि को पहुँच गई है। दो-चार उदाहरणों से ही पता लग सकता है, जैसे—नागमती विलाप करती है—

(क) यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उडि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥
(ख) पिय सौं कहेहु सँदेसडा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम लाग॥
(ग) नहि पावस ओहि देसरा, नहिं हेवत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥
(घ) हाड भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते ध्वनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥
(ङ) पदमावति सौं कहेहु, बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।
तू घर घरनि भई पिउ-हरता। मोहि तन दीन्हेसि जप औ बरता।
हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जान पर जीऊ।
अबहु मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा।
मोहिं भोग सौं काज न, बारी। सौंह दीठि कै चाहनहारी।

(घ) रथहि चढी सब रूप सोहाई । लेइ बसंत मठ मँडप सिधाई ॥
नवल बसंत, नवल सब बारी । सेंदुर बुक्का होइ धमारी ॥
खिनहि चलहिं, खिन चाँचरी होई । नाच कूद भूला सब कोई ॥
सेंदुर-खेह उडा अस, गगन भएउ सब रात ।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ॥
—(क्रियावर्णन)

(ङ) अस के अधर अमी भरि राखे । अबहि अछूत न काहू चाखे ॥
दसन चौक बैठे जनु हीरा । औ बिच बिच रँग स्याम गँभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी । चमकि उठै तस बनी बतीसी ॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
—(सौन्दर्य-वर्णन)

कहीं कहीं वर्ण्य तथ्य का अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वर्णन में वस्तु-व्यंग्य का भी आश्रय ले लिया गया है। अला-उद्दीन ने जिस समय आकर चित्तौड़ गढ़ को घेरा था उस समय वहां आम के पौधे लगाए थे। वे बड़े होकर वृक्ष भी होगए, परन्तु किला सर न हो सका—

आइ साह अमराव जो लाए । फरे, झरे, पै गढ़ नहिं पाए ।

वर्ण्य वस्तु का विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अलंकारों से हमेशा सहायता ली जाती है। जायसी में तो प्रभाव की ही विशेषता है, अतः इन्होंने अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग किया है और सब ही तरह के अलंकार काम में लिए हैं—विशेषतः

सादृश्यमूलक—परन्तु उन सब की तह मे अतिशयोक्ति का आधार लगभग सदा ही रहता है। पर, दो-चार स्थानों को छोडकर, जहाँ कि अलंकार का प्रयोग भावोत्कर्ष का साधक न बनकर भावग्लानि पैदा करने वाला हो गया है, जायसी का अलंकार-विधान सर्वत्र भावोद्दीपन का ही कारण बना है। जायसी के अलकार काव्य-कौतुक अथवा नकली चमत्कार के लिए नही होते—वे ज्यादा पढे-लिखे विद्वान् ही नही थे—प्रत्युत वे भी कवि मे लबालब भरी हुई भावुकता के ही स्वाभाविक अंग हैं। पीछे दिए गए उदाहरणो से इसका प्रमाण मिल जाएगा।

जायसी की भावुकता प्रेम अथवा शृंगार रस की है। सभोग का वर्णन कम है, अधिकतर विप्रलभ को ही प्रधानता दी गई है, जो स्वाभाविक है। सूफी रहस्य-वादी मार्ग मे 'प्रेम की पीर', विरह, का ही विशेष महत्त्व है।

प्रबंध-काव्य की दृष्टि से जायसी के सबध-निर्वाह अथवा घटना-संगठन के बारे मे हम पं० रामचन्द्र शुक्ल के साथ साथ यह कह सकते हैं—"जायसी का संबध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसग की शृंखला बराबर लगी हुई है। कथा-प्रवाह खडित नही है जैसा कि केशव की रामचन्द्रिका का है जो अभिनय के लिए चुने हुए फुटकर पद्यों का सग्रह सी जान पडती है। जायसी मे विराम अवश्य हैं—जो कहीं कहीं अनावश्यक हैं—पर विवरण का लोप नहीं है जिससे प्रवाह खंडित होता हो।"

प्रबंध की दृष्टि से केवल एक बात सबसे अधिक खटकने वाली

है—देवपाल का प्रकरण और उसी के द्वारा, उसी में, कथा का उपसंहार होना। यदि पद्मावती के सती होने को ही 'पद्मावत' का 'कार्य' माना जाए, जैसा कि शुक्ल जी का विचार है, तो भी उस 'कार्य' को संपन्न करने के लिए कथा के बिलकुल अन्त में एक ऐसा नया प्रसंग ले आना, जिसका कि कहानी की किसी भी पूर्व-घटना से निःसार न होता हो, जबरदस्ती की ठूँसठाँस है। यह प्रसंग स्वाभाविक बन जाता यदि पहले कहीं, किसी सिलसिले से, रतनसेन और देवपाल के मनोमालिन्य का दिग्दर्शन करा दिया गया होता।

परन्तु हमारी दृष्टि में तो पद्मावती का सती होना भी 'कार्य' नहीं है। रतनसेन कथा का नायक है और उसी के उद्देश्य से 'कार्य' का निर्धारण होना चाहिए। रतनसेन का उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना है, अतः पद्मावती की प्राप्ति ही 'पद्मावत' का 'कार्य' माना जाना चाहिए। यह देखते हुए कथा का उपसंहार भी नायक द्वारा 'कार्य' की प्राप्ति के बाद हो जाना चाहिए था। अथवा यदि कवि का उद्देश्य कथा को दुःखांत बनाना ही था तो वह पद्मावती की प्राप्ति होते ही नायक-नायिका में से किसी का, या दोनों का, नाश दिखा सकता था और वही देवपाल, या तद्रूप किसी दूसरे पात्र या तत्व को इस 'कार्यक्षय' का माध्यम बना सकता था। परन्तु एक बार 'कार्य' की सिद्धि द्वारा 'फलागम' हो जाने पर देवपाल की कथा एक स्वतन्त्र-रूप में ही हमारे सामने आती है, मूल कथा के अंगस्वरूप में नहीं। वह एक भिन्न प्रबंध-काव्य का विषय बन सकती थी।

नायक के दृष्टिकोण से, पदमावती के सती होने को 'कार्य' मानने मे दूसरी बाधा फिर यह होती है कि 'कार्य' के सपन्न होजाने पर भी नायक के लिए 'फलागम' नही होता, क्योकि नायक तो पहले ही मर चुका है। पुन यदि 'फलागम' भी मान लिया जाए तो हमे 'पदमावत' को सुखात प्रबध मानना पडेगा। परन्तु क्या 'पदमावत' सुखात है ?

प्रबध-रचना मे चरित्र-चित्रण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु जायसी को हम इस दिशा मे कच्चा पाते है। या कदाचित् जैसा कि प० रामचन्द्र जी शुक्ल का विचार है, "जायसी का ध्यान स्वभाव-चित्रण की ओर वैसा न था"। जायसी के सब पात्र अपने अपने चरित्र मे पूर्ण निर्दिष्ट, नपे-तुले, खराद से उतारे हुए है। वे जैसे हैं वैसे ही हैं—हर समय, हर घडी। जायसी को कही 'सचा-रियो' की आवश्यकता ही नही पडती। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्ले-षण हमे किसी भी पात्र के चित्रण मे दृष्टिगोचर नही होता जिसका कि अतुल वैभव हम तुलसीदास के प्रत्येक—गौण से गौण – पात्र मे देखते हैं। जायसी की यह त्रुटि किसी अंश मे शायद सूफियों की 'प्रेम की पीर' के आदर्श के कारण हो।

परन्तु जो पात्र इस 'पीर' से पीडित नही हैं, उनमे भी तो हमे चित्रण नही मिलता—अलाउद्दीन, राघव चेतन, देवपाल, उसकी दूती, पार्वती, महादेव, गंधर्वसेन, समुद्र, लक्ष्मी। चित्रण की कला को प्राय. दुर्वृत्त पात्रों मे अधिक आसानी से सार्थकता प्राप्त हो सकती है, परन्तु जायसी ने उनमे भी कोई चित्रण प्रवृत्ति नहीं

दिखाई। एक प्रकार से हम देखते हैं कि चार पात्रो (रत्नसेन, हीरामन, पद्मावती और नागमती) के अतिरिक्त और किसी पात्र के संबध मे—एक राघवचेतन को छोडकर—जायसी का कोई दृष्टि-कोण ही नहीं है—वे जैसे कथा के सिलसिले से फकत आ भर ही गए है। राघवचेतन के विषय में जो कवि का कुछ दृष्टिकोण बन सका है सो केवल इसलिए कि वह वेद-विधि से विपरीत मार्ग पर चलता था, उसने यक्षिणी सिद्ध की थी। वस्तुत समस्त काव्य मे एक राघवचेतन के—यक्षिणी आदि सिद्ध करने वालो के—प्रति ही हम जायसी की थोडी-सी विरोध-प्रवृत्ति देखते हैं। अन्यथा, समस्त मानवता—व्यक्ति, मत, पथ आदि—के लिए उनकी सहिष्णुता ही दृष्टिगोचर होती है। सहिष्णुता की इस प्रवृत्ति के कारण तुलना करने की प्रवृत्ति भी नही बन सकती, फिर दृष्टिकोण ही कहाँ से बनेगे और दृष्टिकोणो के अभाव मे चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति का न होना भी स्वाभाविक ही है।

जायसी ने अपने दोनों ग्रथो की रचना अपने समय की बोल-चाल की अवधी भाषा मे की है। उस समय की बोल-चाल की भाषा मे होने के कारण इन रचनाओं मे शब्दो की दुरूहता आ गई है। परन्तु जायसी के कहने का ढग इतना अकृत्रिम है कि उसमे हृदय की प्रेरणा हर कही उभरी हुई दीखती है, जिसके कारण शैली मे प्रवाह और माधुर्य पूर्ण रूप से भरा हुआ है और उनके काव्य को पढने मे आनन्द आता है।

जायसी मे भी हमको बहुत-सी सूक्तियाँ मिलती हैं। अन्तस्

मे से ही वे निकली हैं, इसलिए वे हृदयस्पर्शिणी है—विशेषत प्रेम-सबंधी उक्तियाँ। कुछ नमूने देखने चाहिएँ, जैसे—

(क) जेहि के हिये पेम-रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा।

(ख) पेम-समुद महँ बाँधा बेरा। यह सब समुद बूँद जेहि केरा॥

(ग) पेम कै आगि जरै जो कोई। दुख तेहि कर न(अँ?)बिरथा होई।

(घ) जग महँ कठिन खड्ग कै धारा। तेहि तें अधिक बिरह कै धारा।

प्रेम-विषय से भिन्न भी कुछ उक्तियाँ मिलती है, यथा -

(क) ठाकुर जेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई॥

(ख) मनुआ चाह दरब औ भोगू। पथ भुलाई बिनासै जोगू॥

(ग) माटी मोल न किछु लहै, औ माटो सब मोल।
दिस्टि जो माटी सौं करै, माटी होइ अमोल॥

(घ) बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढी आउ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस॥

निष्कर्ष मे यह कह देना आवश्यक मालूम होता है कि जायसी का स्थान हमारे हिन्दी साहित्य मे बहुत ही ऊँचा है। सरलता, साधुता, सौजन्य, भावुकता आदि गुणों से तुलसीदास जी और सूरदास जी के बराबर ही इनको भी स्थान देना चाहिए। ऊपर की विवेचना से जायसी के अनेक कवि-गुणों तथा मानव-गुणों का आभास हमें अवश्य मिल गया है। उनके व्यक्तित्व की और भी विशेषताओं को जानने के लिए हमें प० रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द पढ लेने चाहिएँ—"तत्व-दृष्टि-संपन्न होने के कारण जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा,

अनधिकार-चर्चा, समाज-विद्वेष इनकी उदारता के लक्षण नहीं थे। व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर भी लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रतिष्ठित आदर्शों को ये प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनो के तत्व को ये समझते थे। लोक-मर्यादा के अनुसार जो सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं उनके उपहास और निन्दा द्वारा निम्नश्रेणी की जनता की ईर्ष्या और अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करके यदि ये चाहते तो ये भी एक नया 'पंथ' खड़ा कर सकते थे। पर इनके हृदय मे यह वासना न थी। पीरों, पैगंबरों, मुल्लाओं और पडितों की निंदा करने के स्थान पर इन्होंने ग्रथारभ मे उनकी स्तुति की है और अपने को "पंडितों का पछलगा" कहा है।

"विधि पर इनकी पूरी आस्था थी। 'वेद पुराण' और 'कुरान' आदि को ये लोक कल्याण मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन मानते थे. ... ।"

गोस्वामी तुलसीदास जी

तुलसीदास जी के जीवनवृत्त का परिचय कई प्राचीन आधारों से प्राप्त होता है, यथा—बाबा वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं-चरित', नाभादास जी का 'भक्तमाल', 'भक्तमाल' पर प्रियादास जी की टीका, राजा प्रतापसिंह का 'भक्ति कल्पद्रुम', महाराज विश्वनाथसिंह का 'भक्तमाल', तथा महात्मा रघुवरदास जी का 'तुलसी-चरित'। 'तुलसी-चरित' के विषय मे केवल श्रीयुत इन्द्रदेवनारायण जी ने ज्येष्ठ १९६९ की 'मर्यादा' पत्रिका मे कुछ सूचना दी थी। और कहीं से इस ग्रथ का अभी तक कोई पता नही चला है।

'तुलसी-चरित' के अनुसार गोस्वामी जी मुरारिमिश्र के लडके तुलाराम थे। तुलाराम के तीन विवाह हुए। तीसरी स्त्री की प्रेरणा से उन्हे वैराग्य हुआ।

परन्तु इस वर्णन की पुष्टि दूसरे आधारों से नही होती। इनके बारे मे बहु-सम्मत विश्वास यह है कि ये राजापुर, जिला बाँदा, के रहने वाले थे, इनके माता-पिता का नाम हुलसी तथा आत्माराम था, तथा दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से इनका विवाह हुआ था। ये पाराशर गोत्र के सरयूपारी ब्राह्मण थे।

इनके जन्मकाल के संबंध मे भी कई मत हैं। १५५४, १५८३ और १५८६—ये तीन संवत् इनके जन्म के अलग अलग बताए जाते हैं। पहला संवत् श्री शिवलाल जी पाठक की 'मानस-मयंक' नामक रामचरितमानस की टीका के अनुसार है। परन्तु इनका मृत्यु-संवत् १६८० सर्वसम्मत है। इस प्रकार भिन्न भिन्न मतों के अनुसार इनकी आयु क्रमश १२७, ६७ और ६१ वर्ष की ठहरती है। तुलसीदास जी अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे।

इनके विषय मे एक और भी कहावत प्रचलित है कि ये बारह मास गर्भ में रहे, और जब पैदा हुए तो पाँच वर्ष के बालक के समान मालूम होते थे तथा इनके मुँह मे दाँत थे। पैदा होते ही इनके मुँह से 'राम' शब्द निकला। इन सब लक्षणों को देख कर इनके माता-पिता भयभीत हुए और उन्होने इन्हे घर से निकाल दिया। पैदा होने के बाद ही इन्हे मुनियाँ नामक दासी को पालने के लिए सौंप दिया गया।

संवत् १५६१ मे नरहरिदासजी इन्हें अपने साथ ले गए और इन्हें शिक्षा देने लगे। ये नरहरिदासजी ही इनके गुरु थे और इस बात की पुष्टि रामचरितमानस की पंक्ति "बन्दौ गुरुपद-कंज कृपा-सिंधु नर-रूप हरि" से भी की जाती है।

"गुरु के साथ काशी आने पर, वहाँ महात्मा शेषसनातन जी ने इन्हे देखा और वे इनकी तीक्ष्ण बुद्धि को देख कर बडे प्रसन्न हुए। उन्होने इन्हें पन्द्रह वर्ष तक वेद, पुराण, दर्शन, काव्य आदि का अध्ययन कराया। तदुपरान्त तुलसीदासजी राजापुर लौट

आए। वहाँ इनके मकान की बड़ी दुर्दशा हो रही थी और इनके वंश का कोई मनुष्य नहीं रह गया था। तुलसीदासजी मकान को ठीक कराकर वहीं रहने लगे।" इसके बाद ही इन्होंने अपना विवाह भी किया।

इनकी स्त्री बड़ी रूपवती थी और ये उस पर बहुत आसक्त थे। उसका वियोग पल भर भी न सह सकते। इस पर इनकी स्त्री ने एक बार इन्हें यों समझाया—

अस्थि चरम-मय देह मम, तामैं जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तो भव भीति॥

यह बात तुलसीदासजी के हृदय में ऐसी लगी कि तत्क्षण ही इन्हें वैराग्य हो गया और फिर पत्नी के बहुत कुछ मनाने पर भी वे गृहत्याग कर काशी चले गए।

कहा जाता है तुलसीदासजी को रामदर्शन हुए थे। अपने नित्य-कर्म का बचा हुआ जल ये एक पीपल के वृक्ष में डाल दिया करते थे जिस पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह संतुष्ट होकर इनके सामने प्रकट होगया और इनसे कुछ माँगने को कहने लगा। जब इन्होंने रामचन्द्रजी के दर्शन माँगे तो उसने उपाय बताया कि अमुक स्थान पर हनुमान्‌जी बूढ़े ब्राह्मण का वेष रख कर आते हैं और वे रामदर्शन करा सकते हैं। तुलसीदासजी ने उसके संकेत को ग्रहण कर हनुमान्‌ जी के द्वारा राम दर्शन पाया।

कितनी ही चमत्कार की कथाएँ भी तुलसीदास जी के संबंध में कही जाती हैं। सम्राट् अकबर के द्वारा इनके क़ैद कर लिए

जाने की कथा बडी प्रसिद्ध है। अकबर ने इन्हे बुलवा कर इनसे कोई चमत्कार दिखाने को कहा पर तुलसीदास जी ने उत्तर दिया कि मै तो केवल राम का नाम जानता हूँ, कोई चमत्कार नही जानता। इस पर जब बादशाह ने इन्हे क़ैद मे डाल दिया तो तुलसीदास जी ने हनुमान् जी से विनय की। परिणाम यह हुआ कि असंख्य बंदर न मालूम कहाँ से आकर बादशाह के कोट को विध्वस्त करने लगे और बादशाह ने आकर तुलसीदास जी से क्षमा याचना की और इन्हे मुक्त कर दिया।

अयोध्या और चित्रकूट को छोड कर तुलसीदास जी अधिकतर काशी मे ही रहे जहाँ, इनके निवासस्थान मुख्यत 'अस्सीघाट' और 'सकटमोचन' थे। कहा जाता है कि संकटमोचन म हनुमान जी की स्थापना तुलसीदास जी ने ही की थी।

विरक्त होकर गृहत्याग करने के पश्चात् तुलसीदास जी ने भगवद्भजन मे लीन हो कर प्रभु की महिमा गाने मे ही अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनके एक मात्र प्रभु अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र भगवान् रामचद्र थे। गोस्वामीजी की अधिकाश रचनाएँ इन्हीं के महिमा-गान के लिए हुई है। वैसे तो गोस्वामीजी के बीस से भी अधिक ग्रन्थ बताए जाते हैं, परंतु वास्तव मे, उनमे से कई एक संदिग्ध हैं। तुलसीदास जी के निम्नलिखित चौदह ग्रन्थ ही अधिकतर माने जाते हैं—

१ रामचरितमानस, २. कवितावली, ३ विनयपत्रिका,
४. गीतावली, ५ कृष्णगीतावली, ६ दोहावली,

७ सतसई,　　८ जानकीमगल,　९. पार्वतीमगल,
१० राम ललानहछू,　११ बरवै रामायण, १२. रामाज्ञा प्रश्न,
१३ हनुमान् बाहुक,　१४ वैराग्यसदीपनी।

इनमे पहले सात बडे ग्रथ हैं, शेष सात छोटे। रामचरितमानस सबसे अधिक प्रसिद्ध है और घर घर मे उसका प्रचार है। तदुपरात क्रमश विनयपत्रिका और कवितावली की ख्याति अधिक है।

ऐसा समझा जाता है कि तुलसीदास जी की काव्य-रचना उनकी काफी अवस्था हो जाने के बाद आरभ हुई थी। काव्यक्षेत्र मे पदार्पण करते करते उन्होंने बहुत कुछ ससार की प्रगति का अवश्य अनुभव कर लिया होगा और उनके विचारों, भावनाओं तथा सिद्धान्तों मे प्रौढता तथा स्थिरता आगई होगी। उनका विस्तृत भ्रमण तथा तरह-तरह के विद्वानो और साधु-महात्माओं से मिलना-जुलना उनके अनुभव मे और भी सहायक हुआ होगा। परन्तु अनुभव का उपयोग कवि के लिए तभी फलप्रद होता है जब कि उसके पास विशाल मानवता का हृदय हो, उसके हृदय मे सहानुभूति का खुला भडार हो। महात्मा तुलसीदास मे यही विशेषता है कि विरक्त साधु होते हुए भी वे स्वलीन ही नही है, उनकी पूर्ण दृष्टि संसार के दूषणों और अनुतापों पर भी पडती है। और फिर प्रत्येक परिस्थिति का, एक चतुर वैद्य की भाँति, निदान करते हुए वे हमारे सामने उस परिस्थिति के उपचार और परिचालन का आदर्श उपस्थित करते हैं। तुलसीदास भी शायद

भारतवर्ष के सबसे बड़े आध्यात्मिक वैद्य हैं, जिनकी चिकित्सा-प्रणाली अमोघ है।

सबसे बडे वैद्य वे इसलिए हैं कि वे रोगी के मनोभावो और रुचि को भी समझते हैं, और उसका लिहाज़ रखते हैं। इसलिए उनकी चिकित्सा उद्वेगकरी नही है, प्रत्युत एक प्रकार का चाव उत्पन्न करने वाली है। उनके आविर्भाव के इन ३०० वर्षों मे ही उनकी वाणी ने जितने अधिक प्राणियो को शान्ति और शीतलता प्रदान की है, जितने अधिक प्राणियो को उसने सुधारा या क्लेश-मुक्त किया है, उतने अधिक प्राणियो को और कितने ही धर्मगुरुओ के झुड के झुंड भी इतने थोड़े समय मे समाश्वासन तक प्रदान न कर सके। उनका रामचरितमानस प्रत्येक गृह का, कोमल प्रकाश से युक्त, अक्षय स्नेह से भरा हुआ, कान्तिमान् दीपक है और उन की विनयपत्रिका प्रत्येक भक्त तथा आर्तजन की मानो रसना सी बनी हुई है। प्रभाव और समादर मे रामचरितमानस के सामने केवल एक ही अन्य भारतीय ग्रन्थ दिखाई देता है—श्रीमद्भगवद्गीता। परन्तु गीता मे ज्ञान ही ज्ञान है, क्लिष्ट दर्शन है, और सुखी गृहस्थियों के वह काम की नही। रामचरितमानस, इसके विपरीत, गृहस्थियों और विरक्तों, सब के लिए समान सजीवनी है, जिसकी दो-चार मात्राएँ तो रास्ता चलते भी ली जा सकती हैं।

इसका एकमात्र कारण तुलसीदासजी की सगुण रामभक्ति है। उनके राम स्वय गृहस्थ थे—माता-पिता के पुत्र थे, भाइयो के भाई, पत्नी के पति और पुत्रों के पिता थे। उनके भी कुछ मित्र थे, कुछ भक्त

थे, कुछ शत्रु थे। वे राजपुत्र थे, राजा थे, वे हिंदू घरों के भीतर की और राज-घरों के भीतर की कूटनीति का शिकार बने थे। बाहर, एकाकी, असहाय—केवल अपने रक्षणीय अनुज और पत्नी के साथ—उन्होंने जगल जगल की खाक छानी, जहाँ अनेक, नए, भिन्न भिन्न प्रवृत्ति वाले, व्यक्तियों से उनका संपर्क हुआ, जिसके कारण कहीं उन्हे हँसने को मिला और कही रोने को। जीवन के लिए, जिन्दा रहने के लिए—केवल आत्मरक्षा या पर-रक्षा के लिए—उन्हे जितना संघर्ष करना पडा है, क्या इतना किसी को करना पडता है—और क्या कोई इतने सघर्ष को सहन भी कर सकता है ?

पर तुलसीदासजी के राम परब्रह्म भी हैं, जिनकी इच्छामात्र से समस्त दु खजाल पल भर मे त्रिलोकी से काफूर हो सकते हैं। वे जगत् को धैर्य, सहनशीलता, कर्तव्यपालन और मर्यादा की शिक्षा देने के लिए स्वयं इस जगज्जाल मे आकर फँसते हैं, और सकटों मे कातर भी होते हैं, परन्तु दृढ़ता-पूर्वक उन संकटों का सामना करते हैं और उन पर विजय पाते हैं। परन्तु वे यह भी जानते हैं कि साधारण मनुष्य इतना नहीं कर सकता, इसलिए वे जगह जगह पर अपनी शक्ति का परिचय देते हुए मनुष्य को आश्वासन भी देते हैं। जो रामचन्द्र सीता-हरण पर अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर प्राकृत जन की भाँति करुण क्रन्दन करते दिखाई देते हैं, वे वही राम तो हैं जो दूसरों को सान्त्वना देते हुए कह सकते हैं कि—

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं, मोरे नहि अदेय कछु तोहीं।

अथवा—

सन्मुख होंहि जीव मोहि जबही, जनम कोटि अघ नासहिं तबही।
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं, मोर दरसु अमोघ जग माहीं।

जो जानने वाले है उनके लिए तो राम परब्रह्म ही है, परन्तु जन-साधारण के आश्वासन के लिए और उनमे मर्यादा स्थापित करने के लिए भगवान् मनुष्य बने है। मनुष्य रूप मे आचरण करते हुए वे तो वाल्मीकि की चरण-रज सिर पर लेते हैं (और वाल्मीकि भी लोक-मर्यादानुसार उन्हे आशीर्वाद देते हैं), परन्तु जब भगवान् (अपने वनवास मे) उनसे रहने के लिए स्थान माँगते हैं, तब अवश्य मुनि प्रेमविह्वल हो कर असमंजस मे पड जाते हैं और कहने लगते हैं—

स्रुति-सेतु-पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस-सीस अहीस महि धरि लपन सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराजतनु चल दलन खल-निसिचर अनी॥

राम स्वरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

जग पेखन तुम देखन हारे, बिधि-हरि-शंभु नचावन हारे।
तेउ न जानहि मरम तुम्हारा, और तुमहिं को जाननि हारा।
सो जानै जेहि देहु जनाई, जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।
तुम्हरी कृपा तुमहि रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत-उर चन्दन।
चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत-बिकार जान अधिकारी।

इसके बाद ही वे उनकी नर-लीला का मर्म भी वर्णन करते हैं—

नर-तनु धरेहु सन्त सुर-काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे, जड मोहहि बुध होहि सुखारे।
तुम जो कहहु करहु सब साँचा, जस काछिय तस चाहिय नाचा।
पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुमहि दिखावौ ठाउँ।

यही सक्षेप मे तुलसीदास के रामरूप परब्रह्म का स्वरूप है। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी बडे हैं, केवल 'विगत-विकार अधिकारी' ही उनको जान सकता है। अपनी नर-लीला मे जैसा रूप उन्होंने धारण किया है उसके अनुसार ही वे कहते और करते है, जो बिलकुल उचित है। उनकी इस लीला को देख कर नासमझ लोग भ्रम मे पड जाते हैं, परन्तु समझदार मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। राम सर्वव्यापी हैं। तुलसीदास ने अपने भी मुँह से कहा है—

सिया-राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

जिसमे भगवान् की सर्वव्यापकता के अतिरिक्त तुलसीदास की भावमयी तदात्मता भी लक्ष्य है। तदात्मता और भावविभोरता तो यहाँ तक बढी हुई है कि—

स्याम गौर किमि कहौ बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

राम प्रणत पाल हैं, दयालु हैं, शरणागत-रक्षक हैं। वे कहते हैं—

कोटि विप्र अघ लागइ जेही। आए सरन न त्यागउँ तेही।

उन्होंने विभीषण को शरण दी है और सुग्रीव के त्रास को दूर किया है। उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। अकारण ही वे प्रसन्न हो जाते हैं और प्रसन्न होकर बड़े से बड़ा फल दे डालते हैं।

कोमल चित अति दीन-दयाला। कारण बिनु रघुवीर कृपाला।

प्रमाण यह है कि—

'गृध्र अधम खग आमिष भोगी। गति तेहि दीन्ह जो याचत योगी।

उनको किसी से कुछ नहीं चाहिए, केवल प्रेम, सरलता और निष्कपटता से ही वे द्रवित हो जाते हैं। जिससमय बालि ने कहा—

सुनहु राम स्वामी सुभग, चल न चातुरी मोरि।

प्रभु अजहूँ मै पातकी, अतकाल गति तोरि॥

तो—सुनत राम अति कोमल बानी, बालि सीस परसेउ निज पानी।

अचल करौं तनु राखहु प्राना,' ॥

परन्तु वही राम, जो इतने कोमल हैं, भक्तो और सन्तो के हित के लिए घोर दुष्ट-सहारक भी हैं—

जो अपराध भगत कर करई, राम-रोस-पावक सो जरई।

तथा—निसिचर-हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रन कीन्ह॥

सकल मुनिन्ह के आस्रमन्ह, जाइ जाइ सुख दीन्ह।

उनका अवतार ही इसके लिए हुआ है और सारी रामायण ही इसका उदाहरण है। तुलसीदास जी सगुण भक्ति के साधक थे, यद्यपि निर्गुण को भी इन्होने अमान्य नही ठहराया है। परन्तु एक-मात्र विशेषता इन्होंने सगुणोपासना को ही दी है। सगुणोपासना का आधार भक्ति है और निर्गुणोपासना का आधार ज्ञान। भक्ति

मनुष्य की सहज भाव-परंपरा की पराकाष्ठारूपिणी अवस्था है और इसलिए सरल है। ज्ञान-मार्ग शुष्क है और उस पर स्थिर रहना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसीलिए कहा गया है कि—

ज्ञान क पथ कृपान कि धारा, परत खगेस होइ नहिं बारा।

तथा—ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ॥

निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

परन्तु, वास्तव में, भक्ति और ज्ञान तथा सगुण और निर्गुण में भेद कहाँ है? ऊपर के दोहे में जो 'अज्ञान' और 'तम' शब्द आए हैं ये उपमान न होकर केवल संसार में दिखाई देने वाले द्वित्व-भाव के उदाहरण है। लौकिक न्याय में सत्तात्मक पदार्थ का बोध असत्तात्मक पदार्थ के द्वारा ही होता है। अन्धकार के बिना प्रकाश का ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार संसार में जितने भी पदार्थ या गुण आदि हैं वे अपने विरोधी असत्तासूचक पदार्थों या गुणों द्वारा जाने जाते हैं। इसी प्रकार, आध्यात्मिक पक्ष में, ईश्वर और जीव का भी द्वित्व एक है। तुलसीदास जी ने बताया है कि—

ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन, अमल सहज सुखरासी।

इस द्वित्व में, दोनों तत्त्वों के गुण एक होते हुए भी, जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह माया के कारण—'सो माया-बस भयउ गुसाईं, बँधेउ कीर मरकट की नाईं।' यह माया, जो गुणों की खान है और जिसके कारण पदार्थादिक में भी गुणों का आरोप हो जाता है, जीव को अपने वश में कर लेती है, परन्तु स्वयं वह ईश्वर के वश में है—'ईस-बस्य माया गुन-खानी।' पदार्थों को नामरूपादि गुण दे

कर यह द्वित्व का कारण बनती है, अन्यथा द्वित्व तो कहीं है ही नहीं—ईश्वर और जीव भी एक ही है—और यह द्वित्व-भाव हरि-कृपा से दूर हो सकता है—'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'। जब यह बात है तो निर्गुण या सगुण, अथवा ज्ञान और भक्ति मे भी भेद कहाँ रहा ?

ज्ञानहि भगतिहि नहि कछु भेदा। उभय करहि भव-सभव खेदा।

इसी प्रकार द्वित्व की दृष्टि से, अथवा अद्वित्व की दृष्टि से, तुलसीदास जी के राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं । इसीलिए तुलसीदास जी उनकी नर-लीला का वर्णन करते समय स्थान-स्थान पर प्राय उनके ईश्वर-रूप का स्मरण कराते चलते हैं, यथा—

लव-निमेख महँ भुवन-निकाया, रचइ जासु अनुसासन माया।
भगत-हेतु सोइ दीनदयाला, चितवत चकित धनुप मख-साला।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सोई धावा।

लक्ष्मण जी को शक्ति लगने पर जब रामचन्द्र जी विलाप करते हैं तो तुलसीदास जी शिवजी के मुख से यो कहलवाते है—

उमा अखड एक रघुराई, नरगति भक्त-कृपालु दिखाई।

परन्तु जब 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव' के लिए, 'माया बस' होने के कारण ही, नामरूपात्मक आधारों को छोडना दुष्कर है, और जब कि सगुण और निर्गुण मे भेद भी नहीं है, तो सगुण भक्ति ही श्रेष्ठ मानी जाने योग्य है ।

परन्तु यह भक्ति अनन्य भक्ति होनी चाहिए, जैसी कि तुलसी-दास जी की थी—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

उस भक्ति में परम दीनता होगी। एक स्वामी को छोड़कर दूसरे का निहोरा उसमे नही होगा। चातक आदर्श है—

तीनि लोक तिहुँ काल जस, चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ॥

तुलसीदास जी की भक्ति भावना की गहनता को समझने के लिए और भी दो एक बातों पर दृष्टि डाली जा सकती है। राम उन के प्रभु है, इसलिए उनकी भक्ति या उपासना 'सेवक-सेव्य' भाव की है। 'सेवक-सेव्य' भाव की भक्ति के बिना भवसागर से छुटकारा नही मिल सकता। रामभक्ति-विहीन मनुष्य ज्ञानवान् होता हुआ भी पशु के समान है। ससार के जितने भी पूजनीय अथवा प्रिय संबध हैं वे सब राम के ही नाते से है। वे कहते हैं—

(क) सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय खगेश।
(ख) रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निरबान।
ज्ञानवन्त अपि सोपि नर, पसु बिनु पूँछ बिषान॥
(ग) भगति हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन बिना बहु व्यंजन जैसे।
(घ) सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहर खाउ।
(ङ) पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते॥

पाँचवें-उदाहरण की पुष्टि मे यह भी कहा जा सकता है कि, लौकिक संबंधों की तो कौन कहे, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिक छोटे बड़े

सब देवता भी तुलसीदास जी को इसीलिए माननीय हैं कि वे या तो स्वयं राम-रत है, या राम से तुलसीदास जी की सिफारिश करने मे समर्थ हैं, अथवा फिर तुलसीदास जी को राम-भक्ति प्रदान कर सकते हैं। विनय-पत्रिका के प्रारंभिक पद इसी बात के प्रमाण हैं।

रामचन्द्रजी के बाद तुलसीदास जी को यदि और किसी का सबसे अधिक सहारा है तो हनुमान् जी का। वह शायद इसलिए कि हनुमान् जी रामचन्द्र जी के स्वयं परमभक्त, विश्वासपात्र और कृपा-भाजन है, और शायद इसलिए भी कि, जैसा कहा जाता है, तुलसीदास जी को रामजी के दर्शन भी इन्हीं के द्वारा हुए थ। रामचरितमानस के सुन्दरकांड के नायक एक प्रकार से हनुमान् जी ही कहे जा सकते है। कवितावली का भी एक कांड उन्हीं की वीरकीर्ति से भरा हुआ है तथा विनयपत्रिका क अपेक्षाकृत अधिकांश प्रारंभिक पद्यों मे हनुमान् जी का ही स्तोत्र है।

सीताजी तो जगदंबा और महामाया हैं ही, परन्तु लक्ष्मण जी भी विशेषतः स्तुत्य हैं—इसलिए नहीं कि वे शेषनाग के अवतार है, बल्कि कदाचित् इसलिए कि वे भी राम के कृपाभाजन हैं—रामचन्द्र जी का उनके ऊपर वात्सल्य-स्नेह है—और उन्हे रामचन्द्र जी का साहचर्य प्राप्त है। विनयपत्रिका मे वही तुलसीदास जी की प्रार्थना को रामचन्द्रजी के सामने पेश करते हैं, जिस पर रामचन्द्र जी की सारी सभा भी दाद देने लगती है, और रामचन्द्र जी प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनेवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है॥

रामचरितमानस के कितने ही पात्र रामचन्द्र जी के भक्त हैं। ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त प्राकृत (लोकव्यवहार-लीन) पात्रों में लक्ष्मण, भरत, सुमित्रा, निषाद, शबरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण की गणना की जा सकती है। इन मे भरत और लक्ष्मण की पात्रता तो स्वयसिद्ध ही है। परन्तु निषाद, शबरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण केवल इसलिए सम्माननीय हैं कि, अपनी जाति अथवा चरित्र की कुछ न कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, वे किसी न किसी अंश मे भगवान् के सेवक या भक्त सिद्ध होते हैं। इन सब मे जिस जिसने भगवान् की जितनी या जैसी सेवा की है उसी के अनुसार उसका उल्लेख भी हुआ है।

सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति के साथ विनय और दीनता का स्वाभाविक योग है। अपने प्रभु के साथ तो तुलसीदास के ये दोनों गुण अपनी चरमता को ही पहुँचे हुए हैं, फलतः उनमे भावुकता भी परा कोटि की है। सारी विनयपत्रिका ही इसका उदाहरण है। यहाँ केवल दो चार पद्य ही दिग्दर्शनमात्र के लिए उद्धृत किए जाते हैं—

(क) कबहुँक अंब अवसर पाइ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥

दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।

नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥

बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।

सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥

जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।

तरै तुलसी भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥

(ख) तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो सो।

मो समान आरत नहि, आरतिहर तो सो॥

ब्रह्म तू, हौ जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।

तात मात सखा गुरु तू, सब बिधि हितु मेरो॥

तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै॥

(ग) बलि जाउँ और कासों कहौं?

सदगुन-सिन्धु स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि सो लहौं।

जहँ जहँ लोभ लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं।

तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु कोटर गहौं॥

काल सुभाव करम विचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं।

मोको तो सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं॥

उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ किंकर न हौं।
अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल, साँसति सहौं॥
महाराज राजीवविलोचन, मगन-पाप संताप हौं।
तुलसी प्रभु जब तब जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निबहौं॥

(घ) कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम! रस न रहत।
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो काल की करम की कुसाँसति सहत॥
करत विचार सार पैयत न कहूँ कछु, सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत।
नाथ की महिमा सुनि समुझि आपनी ओर हेरी हारी के हहरि हृदय दहत॥
सखा न,सुसेवक न,सुतिय न,प्रभु,आप माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तो थोरी ही है सुधरेगी बिगरियो बलि,राम रावरी सौं रही रावरो चहत॥

(ङ) प्रन करिहौं हठि आजु तें राम द्वार परयो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं॥
दे दे धका जमभट थके, टारे न टर्‌यो हौं।
उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग नरक निदरि निकर्‌यो हौं॥
हौं मचलो लै छाँड़िहौं जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिये, बलि, बिलंब न कीजिये जात गलानि गर्‌यो हौं॥
प्रगट कहत जो सकुचिये अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसिहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं॥

(च) पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ, दास आस पूजिहै खास खीन की॥
राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति बिहीन की॥

समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।

प्रीति-रीति समुझाइब नतपाल, कृपालुहि परिमिति पराधीन की ॥

तुलसीदासजी जैसे महात्माओं मे विनय चरित्र का अग बन कर स्वाभाविक शील का रूप धारण कर लेती है। प्रभु के साथ उस विनय मे दीनता मिली रहती है, परन्तु अन्यत्र वह व्यापक सौजन्यमात्र का चिह्न है। रामायण के आरभ मे जब वह खलों की व्यग्य वन्दना करते है तो 'सद्भाव' से। 'बहुरि बन्दि खलगण सति भाए, जे बिनु काज दाहिने बॉए ?' कहीं कही पर वे ज़रा कठोर शब्दो का प्रयोग भी करते दीख पडते हैं, जैसे—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।

तुलसा अलखहि का लखै, राम-नाम जपु नीच ॥

पर यहाँ पर 'नीच' शब्द औद्धत्य और धृष्टता के उद्देश्य का उतना व्यजक नही है जितना कि सासारिक ढकोसलेबाजी और मिथ्या विश्वासो पर होते रहने वाले उनके क्षोभ का।

तुलसीदासजी के समय मे तरह तरह के मतमतान्तर और धर्मसप्रदाय बहुत से थ और एक दूसरे का खडन करने तथा आपस मे लडने-झगडने का उनका रात-दिन का पेशा सा हो रहा था। इसी तरह वर्णाश्रम धर्म भी विश्रृंखल हो रहा था और राजा तथा प्रजा की भी व्यवस्था खराब थी। अपने समय की अवस्था का उन्होने वर्णन किया है—

प्रभु के वचन वेद-बुध सम्मत मम मूरति महिदेवमयी है।

तिन्हकी मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि लई है ॥

राज समाज कुसाज, कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति-प्रतीति-प्रीति-परिमिति-पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम-बरन-धरम-विरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
साति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदति साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है॥

पुनः उत्तरकांड में कलिकाल का वर्णन जो वस्तुतः उन्हीं के समय का वर्णन है, इस प्रकार दिया है—

बरन धरम नहि आस्रम चारी, स्रुति-बिरोध-रत सब नर नारी।
द्विज स्रुतिबचक भूप प्रजासन, कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन।
मारग सोइ जाकहँ जो भावा, पंडित सोइ जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभरत जोई, ताकहँ संत कहैं सब कोई।
सो सयान जो परधनहारी, जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी, कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी।

असुभ बेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिं॥
बाद सूद्र कर द्विजन्ह सन, हम तुमतें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई गृह संपति नासी, मूँड़ मुँड़ाइ भये सन्यासी।
ते बिप्रन सन पाँव पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं।
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ बृषली-स्वामी।

नरपीडित रोग न भोग कहीं, अभिमान विरोध अकारन हीं।
लघु जीवन संवत पंच दसा, कल्पान्त न नास गुमान असा।
कलिकाल बिहाल किए मनुजा, नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता, सब जाति कुजाति भये मँगता।

ऐसी परिस्थितियों मे, जब कि समाज में सर्वत्र विशृंखलता फैली हुई थी, समाज की जर्जरित अवस्था को देखकर तुलसीदास जैसे लोकहित-चिन्तक महात्मा को यदि खेद हुआ हो तो क्या आश्चर्य है ! ढकोसलों से भरी इस अवस्था की आलोचना करते समय कभी कभी उनकी वाणी मे कुछ क्षोभ का दृष्टिगत हो जाना स्वाभाविक ही है। ऐसी मनोवृत्ति मे यदि कहीं कोई कठोर शब्द निकल गया तो निकल गया, अन्यथा उन्होंने अधिकतर व्यंग्य से ही काम लिया है।

पर अधिकतर उनका काम सयोजक का है। उन्होंने सम्प्रदायो के विरोधों को दूर करने के लिए राम नाम के एक सूत्र से सब को मिलाने की कोशिश की है। वैष्णवो और शैवों के विरोध को शान्त करने के ध्येय से वे अपने राम जी से कहलाते हैं—"शिव-द्रोही मम दास कहावै, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै।" इसीलिए हम देखते हैं, कि एकमात्र राम को ही अपना सर्वस्व मानते हुए भी, उन्होंने किसी दूसरे देवता का तिरस्कार नहीं किया और सबको रामभक्ति की प्राप्ति मे सहायक मान कर उनकी भी वन्दना की। राजा और प्रजा की आदर्श स्थिति की कल्पना मे वे एक ऐसे 'राम-राज्य' की अवतारणा करते हैं जिसमे—

बैर न करहिं काहु सन कोई, राम-प्रताप विषमता खोई ।
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग ।
चलहि सदा पावहि सुखहि, नहि भय सोक न रोग ॥
सब नर करहि परस्पर प्रीती, चलहि सुधरम निरत-स्रुति रीती ।
अल्पमृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज सरीरा ।
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहि कोउ अबुध न लच्छनहीना ।
सब निर्दंभ धर्मरत धरनी, नर अरु नारि चतुर सुभकरनी ।
सब गुनज्ञ सब पंडित ज्ञानी, सब कृतज्ञ नहि कपट सयानी ।
सब उदार सब पर उपकारी, द्विज सेवक सब नर अरु नारी ।
एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन बच-क्रम पति-हितकारी ।
दंड जतिन कर भेद महँ, नर्तक नृत्य-समाज ।
जितहु मनहि अस सुनिय जहँ, रामचन्द्र के राज ॥

इतना ही नही, रामचन्द्र के राज्य मे पशु-पक्षी तक निर्भय थे और प्रेम से रहते थे । राजा का कर्तव्य है पुरजन-बटोही आदि के लिए सडकों पर फलों के वृक्ष लगवाना, जगह जगह बाग-बगीचे लगवाना, जिससे उन्हे विश्रान्ति मिले और भूख लगने पर स्वाभाविक आहार भी मिल सके। राजा को चाहिए कि बस्तियों की सफाई अच्छी रक्खे, जिससे निर्मल और शुद्ध वायु का प्रवाह हो, कृषि को उन्नतिशाली बनाए, गौओ की समृद्धि करे जिससे घी दूध की कमी न हो और प्रजा पुष्ट हो, तथा जल की स्वच्छता आदि का प्रबन्ध करे, आजकल की भाँति नदियों को गंदगी बहाने (drainage) का साधन न बनाए। रामराज्य इन बातों के लिए भी आदर्श है—

फूलहि फलहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पचानन।
सीतल सुरभि पवन बह मंदा, गुञ्जत अलि लै चलि मकरंदा।
लता विटप माँगे फल द्रवही, मनभावते धेनु पय स्रवही।
ससि संपन्न सदा रह धरनी ।
सरिता सकल बहैं बर बारी, सीतल अमल स्वादु सुखकारी।

लोकहित-चिन्तना के उनके इस उद्देश्य मे उनके क्षोभ का यत्र तत्र थोडा-बहुत प्रकाश उनका स्वभाव-दोष कदापि नही कहा जा सकता। वह केवल उनकी लगन और निष्कपटता की ही एक छाया है। और यदि उनकी सामाजिक आलोचनाओं मे किसी को फटकार दिखाई देती ही हो, तो भी क्या हुआ ? आजकल के स्वार्थप्रेरित कितने ही कपट-मुनि, जो 'सुधारक', 'धर्मोपदेशक' या 'देशभक्त' होने के सार्टिफिकटों से अपने को चालू करते हैं, जब प्लैटफार्म पर खडे होकर बहुत सी खरी-खोटी हमको सुना देते हैं, और हम लोग आसानी से सुन लेते हैं, तो इस निस्पृह, गरीब, सच्चे लोक-सेवी महामुनि के ही एकाध शब्द का कोई बुरा क्यों माने ?

गोस्वामी जी ने जो कुछ भी कहा है वह 'स्वान्त सुखाय' कहा है, परन्तु 'स्वान्त सुखाय' होने पर भी उनकी वाणी व्यापक उद्देश्य से भरी हुई है, यह हम देख चुके हैं। 'स्वान्त सुखाय' होने के कारण ही उनकी रचना मे सचाई है। सचाई और निष्कपटता व्यक्ति को व्यक्तित्व देती हैं, वे किसी भी उद्देश्य और कर्म को महान् बना सकती हैं। अतः यदि एक ओर हम आसानी से उनसे

बड़ा दूसरा समाजोपकारक और जन-हितैषी नहीं ढूँढ पाते तो दूसरी ओर, वाणी की दृष्टि से, उनसे बड़ा दूसरा कहने वाला भी हमको नहीं मिलता। बेशक, वे हमारी हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं और संसार की भाषाओं के सबसे बड़े कवियों में से एक हैं।

कविता की पहली और सबसे बड़ी कसौटी रसात्मकता अथवा परिभाषा-मुक्त भाषा में, भावुकता है। किसी वस्तु की भावुकता का अभिप्राय है उस वस्तु का हृदयस्पर्शिणी होना। सचाई और निष्कपटता भावुकता के सबसे बड़े आधार हैं। तुलसीदास जी की विचारधारा के मोटे-मोटे तत्वों का साधारण परिचय पाकर हम यह देख चुके हैं कि उनके कहने के ढंग में, कोरा कथनमात्र ही न हो कर, बहुत कुछ प्रभाव भी है। विनयपत्रिका के उद्धरण उनके दैन्य भाव की हृदयस्पर्शिता के द्योतक हैं। दैन्यभाव की भावुकता का उत्कर्ष विनयपत्रिका में ही सबसे अधिक हुआ है। उसका नाम ही विनयपत्रिका है। दो एक उदाहरण इस कथन को और अधिक स्पष्ट कर देंगे, यथा—

(क) कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे॥

(ख) दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥

× × × × ×

तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥

× × × × ×

तू गरीब को नेवाज, हौ गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो ॥
(ग) खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु।
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥
(घ) ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न राम से तो से न वसीले ॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले।
जानत हौ कलि तेरेउ मनु गुन-गन कीले ॥
हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।
सो बल गयो, किधौं भये अब गर्व-गहीले ॥
सेवक का परदा फटे तुम समरथ सीले।
अधिक आपु त आपुनो सुनि मान सहीले ॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले ॥

जहाँ प्रभु की महिमा, उनकी भक्तवत्सलता अथवा उनके समक्ष किसी आर्त की आर्तता का प्रसंग आ जाता है वहाँ तो तुलसीदास जी की भावुकता बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। बालि के शब्द 'प्रभु अजहूँ मैं पापी, अन्तकाल गति तोरि' हृदय में कितने गहरे घुसनेवाले हैं। इसी प्रकार वनगमन के समय जब रामचन्द्र जी भरत जी को घर रहने की आज्ञा देते हैं तो भरत का उत्तर कितना मर्मस्पर्शी हो जाता है—

अवसि हौं आयसु पाइ रहौंगो।
जनमि कैकयी कोखि कृपानिधि, क्यों कछु चपरि कहौंगो॥
'भरत, भूप, सिय राम लखन बन,' सुनि आनन्द सहौंगो।
पुर परिजन अवलोकि मातु सब सुख सन्तोष लहौंगो॥
प्रभु जानत जहि भाँति अवधि लौं बचन पालि निबहौंगो।
आगे की बिनती 'तुलसी' तब जब फिरि चरन गहौंगो॥
—(गीतावली)

हृदय की वेदना बताई नहीं जाती है, वह केवल थोड़ी-बहुत दिखाई जा सकती है। भरत जी की स्वीकृति ने वेदना को इतना दिखाया है कि वह नगी हो उठी है। उनका उच्चरित एक एक अक्षर जैसे एक एक लंबी अश्रुधार बन गया हो।

राम के चले जाने पर कौशल्या कहती हैं—

माई री मोहि कोउ न समुझावै
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै।
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता॥

सरलता, अबोधता, मे भावुकता गुहराज के उत्तर मे देखी जा सकती है—

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहिं, बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥
रावरे दोष न पायन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥

पावन पायँ पखारि के नाव चढाइहौं, आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

विभावानुभाव आदि से पूर्ण-पुष्ट रसात्मकता के आस्वादन के लिए पूरा रामचरितमानस पढना चाहिए। रामचरितमानस एक प्रबध काव्य है, और महाकाव्य है। एकाव दृष्टि से यह खडश अनेक खडकाव्यो का समुदाय भी कहा जा सकता है। प्रबंध काव्य मे प्रसंग आदि के सहारे विभावो, अनुभावो और सचारियो की अच्छी योजना बन पडती है। महाकाव्य के नाते इस ग्रथ मे सर्वांगीण जीवन का चित्र है जिसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थाएँ तक कवि की पैनी दृष्टि से नहीं बच पाई है। 'पैनी दृष्टि' का अभिप्राय जीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से है, जिसमे मनोविज्ञान के ज्ञान की भी आवश्यकता पडती है। मनोविज्ञान चरित्र-चित्रण का सहायक है। भावुकता, परिस्थिति और चरित्र के सम्यक् सामजस्य से पैदा होती है। रामचरितमानस मे इस तरह के प्रसग के प्रसग भरे पड़े हैं, जिनमे परिस्थिति और चरित्र मिल कर पाठक के हृदय को खूब अच्छी तरह, जगाते ही नहीं, सचेष्ट करते हैं। करुण की दृष्टि से राम-वन-गमन, राम भरत-मिलाप, सीताहरण और लक्ष्मण के शक्ति लगना बडे ऊँचे स्थल हैं। रौद्र, वीर और भयानक लकाकाड मे खूब देखने को मिलेगे। सुन्दरकाड मे अद्भुत है, यद्यपि अद्भुत लकाकाड मे भी अच्छा दृष्टि-गोचर होता है। नारद-मोह और और लक्ष्मण-परशुराम संवाद मे हास्य के दर्शन होते हैं। भरत की तपश्चर्या मे (राम के स्थान मे राज्य करने के लिए मजबूर होना

उनके लिए तपस्या ही थी)—शान्त के लक्षण मिलते हैं। हाँ, संभोग शृंगार अपने पूर्ण रूप मे नही मिल सकेगा, क्योंकि तुलसीदास राम के सेवक थे और पूर्ण मर्यादावादी थे। शृंगार के आलंबन और संचारियो की कुछ मनोहर झलक विवाह से पूर्व बाग मे, राम और सीता के मिलन मे दिखाई देती है। ये केवल कुछ मोटे-मोटे उदाहरण हैं, अन्यथा रामचरितमानस मे तो पद पद पर भावुकता और रसात्मकता भरी पडी है। तुलसीदास जी की सहृदयता के कारण सर्वत्र ही उनको ऐसी परिस्थितियाँ मिल जाती हैं, जहाँ उनके ढाले हुए चरित्र अपनी विशेषताओं के कारण उन परिस्थितियों मे जान डाल देते हैं। राम और वाल्मीकि की भेंट मे कोई असाधारणता नही है, राम उनसे रहने को स्थान माँगते है और वे राम को स्थान देते है, परन्तु देने से पहले यह कहे बिना उनसे नही रहा जाता कि—

पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुमहिं दिखावौं ठाउँ ॥

इस प्रकार की भावुकता चरित्र की विशेषता से उत्पन्न होती है। चरित्र की विशेषता का निर्णय करना और उसे बराबर समझते रह कर उसका सफल निर्वाह करना तुलसीदासजी खूब जानते हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान जैसे चरित्र तो आदर्श चरित्र हैं और अपने आचरण मे सुनिश्चित हैं। परन्तु विशेष कठिनता होती है उन चरित्रों के आचरण-निर्वाह मे जो प्रवृत्ति-परवशता मे कुपथगामी बने होते हैं अथवा जो कदर्य होते हुए भी ऊँची

आकाङ्क्षाओं से मुक्त नही होते। बालि और सुग्रीव के चरित्रों में किन्ही अंशो मे हम ये बाते पाते है। जो बालि, पापी व्यभिचारी, अत्याचारी अहंकारी, और साथ ही अतुल बलशाली है और जो, अपनी पत्नी के यह समझाने पर भी कि सुग्रीव के सहायक रामचन्द्र है, सुग्रीव को तृण के समान समझता हुआ उससे लडने जाता है वही मरते समय इतना विनम्र हो जाता है कि "सुनहु राम स्वामी सुभग" आदि कहता हुआ जीवनदान से अधिक श्रेष्ठ उस मृत्यु को समझता है। परन्तु तुलसीदासजी ने चरित्र को विषमता न आने देने के लिए उसके मुख से पहले ही कहला दिया है—

सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जो कदापि मोहि मारिहैं, तो पुनि होहुँ सनाथ॥

उसे आशा नही कि रघुनाथ जी उसे मारेगे। यह उसका कुतर्क है, परन्तु फिर भी वह अपने दूषणो को नही देख पाता, और ऐसा समझना भी उसके चरित्र का ही एक अंग है। उसके ऐसा कहने से यह भी व्यंग्यध्वनि निकलती है कि यदि रामचन्द्रजी ने उसे मार दिया तो शायद वे समदर्शी नहीं रहेगे। मरणशील होने पर भी उस का यह भाव रहता है और वह प्रभुसे इस सबध मे तर्क करता है—

मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारण कवन नाथ मोहि मारा।

परन्तु यह सब होने पर भी भगवान के हाथ से मारे जाने मे उसका कल्याण है, ऐसी उसकी धारणा है और वह मर कर जीना नहीं चाहता। यही उसका चरित्र है, लेकिन यदि उपर्युक्त दोहे मे

से तीसरा और चौथा चरण निकाल दिया जाय तो बालि का सारा चरित्र एक भौंडा सा मखौल रह जाएगा।

दीर्घकालिक चरित्रों अथवा परिस्थितियों के अतिरिक्त क्षणिक अवस्थाओं में भी तुलसीदास जी की सूक्ष्म दृष्टि नहीं चूकती। रामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीता के सहित बन को जाते हुए किसी गाँव को पार कर रहे हैं। ग्राम-बधुएँ उन्हें देखने के लिए खड़ी हो जाती हैं। उसका वर्णन है—

सीस जटा उर बाहु बिसाल, विलोचन लाल तिरीछी सी भौंहें।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहि बार सुभाय, चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछतीं ग्राम-बधू सिय सों कहो, साँवरे से सखि, रावरे को हैं?
सुनि सुंदर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हैं, समुझाइ कछु मुसकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै, बिकसी मनो मंजुल कंजकली॥

जितनी कुशलता तुलसीदासजी मे मानसिक व्यापारों को परखने और चित्रित करने की है उतनी ही बाह्य दृश्यों को चित्रित करने की भी है। दृश्य-चित्रण के कई अच्छे उदाहरण कवितावली मे हैं। हनुमान्जी ने लंका मे आग लगादी है। उस समय—

'लागि लागि आगि', भागि भागि चले जहाँ तहाँ।
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।

छूटे बार, बसन उघारे, धूमधुंध-अंध,
कहैं बारे बूढे 'बारि बारि' बार बार हीं ॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारि भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं ।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
"तात तात, तौंसियत, झौंसियत, झारहीं ॥

उपलक्षणा द्वारा चित्रण का उसी स्थल से यह उदाहरण दिया जा सकता है—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है ।
कैधौं व्योम वीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है ॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरु ते कृसानु सरि भारी है ।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
'कानन उजारयो, अब नगर प्रजारी है' ॥

रामायण के अरण्य-कांड मे तालाब का वर्णन इस प्रकार है—

बिकसे सरसिज नाना रंगा, मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ।
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ।
चक्रवाक बक खग समुदाई, देखत बनै बरनि नहिं जाई ।
सुन्दर खगगन गिरा सोहाई, जात पथिक जनु लेत बुलाई ।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये, चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये ।

तन मृदु मजुल मेचकताई । झलकति बाल-विभूषन झाँई ॥
अधर पानि पद लोहित लोने । सर-सिगार भव सारस-सोने ॥
किलकत निरखि बिलोल खिलौना । मनहुँ विनोद लरत छबि छौना ॥

काव्य के अधिकाश गुणो का पूर्णोत्कर्ष तो, वस्तुत , प्रसगक्रम मे विकसित होने के कारण प्रबंध-काव्य मे ही अच्छा प्राप्त होता है । अब तक जितनी बातो के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनके, और उनसे बहुत अधिक के, अगणित उदाहरण, यदि कोई चाहे तो, अकेले रामचरितमानस म से निकालकर इकट्ठे कर सकता है । तुलसीदास जी ने अपनी समस्त कविता (कृष्णगीतावली जैसी कुछ छोटी रचनाओं को छोडकर) रामचन्द्र जी के विषय मे की है और दूसरे ग्रथों मे किए गए उनके बहुत से वर्णन रामचरितमानस के वर्णनों की पुनरावृत्तिमात्र है। इसलिए रामचरितमानस मे वे प्रसंगादिक से विकसित होकर अपने शृ खलाबद्ध रूप मे मिलते हैं, जो बात कि कवितावली आदि सग्रह-ग्रथो मे स्वाभाविकतया नहीं हो सकती । और फिर, तुलसीदासजी का प्रबध-रचना-कौशल भी असाधारण था ।

प्रबध-रचना के कौशल मे यह वाछनीय है कि कथा का सिल-सिला चलता रहे, कहीं टूटे नही, उसमे शिथिलता न आने पावे, उत्तरगामी प्रसंगो का पूर्ववर्ती प्रसंगों से स्वाभाविक निस्सार होता हो, तथा उसका प्रसार क्रमश सारस्थलों की ओर होता चले । इसका अर्थ यही होगा कि अनावश्यक अथवा असमर्थ किसी प्रकार के भी प्रसंग प्रबध के घटना-विन्यास मे स्थान नही पा सकेगे ।

इसी तरह से नीरस स्थलों का भी निराकरण किया जाएगा। रामचरितमानस का प्रबध बड़ा जटिल है। रामचरित की कथा पहले तो काकभुशुंडि ने गरुड़ से कही, वही कथा शिवजी ने पार्वती से दुहराई और बाद मे शिव-पार्वती की बातचीत को याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कहा। तुलसीदास जी याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद का वर्णन कर रहे हैं। अर्थात् वास्तव मे सारी रामायण अपने मूल मे काकभुशुंडि द्वारा किया हुआ एक वस्तुवर्णन है और तुलसीदास जी उनकी बातचीत के तीसरे रिपोर्टर या संवाददाता हैं, बातचीत के सिलसिले मे बहुत से अनावश्यक प्रसंग और फालतू बातें आ ही जाती हैं और प्रबध-काव्य के पढ़ने वालों के लिए वे अरुचिकर भी हो सकती हैं। रामचरितमानस-रूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज सवाद मे ऐसे स्थलों की कमी नहीं है। प्रथम तो इसमे बहुत सी प्रासगिक उपकथाएँ आ गई है जिन्हें कहीं कहीं काफी विस्तार दे दिया गया है, फिर कही-कही अप्रासगिक कथाएँ भी हैं जो, यदि यह कथा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद के रूप मे न होती तो, आ ही नहीं सकती थी, जैसे सतीमोह, काम-दहन आदि। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं वर्णन भी इतने 'तूल-तवील' बन गए हैं कि वे कथा-प्रसार म रुकावट डालने मे समर्थ हो सकते हैं। परन्तु तुलसीदास जी का यही सबसे बड़ा रचना-पाटव है, कि ऐसे स्थलो को उन्होंने कहीं अरुचिकर नहीं होने दिया है। इसके विपरीत, हम तो देखते हैं कि अपने लोक-मर्यादा आदि के उद्देश्य से अप्रासगिक कथाओं का समावेश भी उनको अभिप्रेत

था, और उद्देश्यसिद्धि के हेतु अप्रासंगिक को प्रासंगिक बनाने के लिए ही उन्होंने कई कई महानुभावों के वार्ताहर का जामा पहना है। फिर, वे एक सहृदय और भावुक वार्ताहर थे जो 'राम' का 'र' सुनते ही अपने को भावों मे खो बैठे। इसीलिए जहाँ अति लंबे वर्णन हैं, जिनमे बहुत-से दूसरे कवि अपनी कारीगरी का फजीता करा बैठते, उन्होंने अपने अतुल कल्पना-वैभव और भाव-सारस्य से सजीवता भर दी है। उन्होंने उनको बोलते हुए चित्र बना दिया है। छोटे से उदाहरण के तौर पर हम किष्किन्धाकांड के वर्षागमन के दृश्य को देख सकते हैं। रामचन्द्र कह रहे हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा, प्रिया-हीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरखहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के बचन संत सहैं जैसे।
क्षुद्र नदी भरि चली तोराई, जस थोरेहु धन खल बौराई।
भूमि परत भा ढाबर पानी, जिमि जीवहिं माया लपटानी।
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा, जिमि सदगुन सज्जन पहँ आवा।

यहाँ, जहाँ एक ओर वर्षा की वास्तविक प्रतिमा खड़ी कर दी गई है—जिसमे दामिनी का दमकना, बूँदों का पहाड़ों पर आघात करते हुए (टप्-टप् ध्वनि के साथ) गिरना, बादलों का (पहाड़ के सान्निध्य से) पृथ्वी पर लटक आना, छोटी नदियों का भर कर उन्मत्त हो उठना आदि प्रत्यक्ष आँखों के सामने आ उपस्थित होते हैं—वहीं दूसरी ओर एक एक पदार्थ की चेष्टायुक्त सप्राणता

में ऐसा दीखता है कि प्रत्येक पदार्थ वाणीयुक्त हो एक एक सिद्धान्त हम से कहता जा रहा है। इसका प्रमाण यही है कि आधी आधी चौपाइयों में सिद्धान्त-कथन होते हुए भी दृश्य की प्रत्यक्षता को कोई हानि नहीं पहुँचती। यदि यही दृश्य, बिना सहानुभूति और सत्यता के, केशवदास जी की कृत्रिम शैली में उपस्थित किया जाता तो इसके सिद्धान्तवाक्य, निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो उठते। इसी प्रकार जिस समय भगवान् विलाप करते हुए पूछते हैं—'हे खग मृग हे मधुकर-श्रेनी, कहुँ देखी सीता मृगनैनी' तो हमको खग, मृग और मधुकर-श्रेणी निर्विन्नभाव से भगवान् के सामने मुँह लटका कर खड़े या बैठे हुए नहीं दीख पड़ते क्या ?

इसके अतिरिक्त रामचरितमानस में अद्भुततत्त्व या 'रोमास' (Romance) की इतनी प्रचुरता है कि वह निरर्थकता या अति-विस्तार को भी सार्थक, रुचिकर, कुतूहलवर्धक बना देता है। और इन सब बातों के लिए रामभक्ति जैसे एक बड़े जबरदस्त गोंद का काम करती है। अन्यथा किसी दूसरे कवि के हाथों में पड़कर नारद-मोह या प्रतापभानु या श्रवण की उपकथाएँ बिलकुल निरनुरञ्जक बन जाती, या फिर, उसे ऐसे प्रसंगों का परम सक्षेप के साथ सकेत-मात्र ही करना पड़ता। फिर, गोस्वामी जी की सावधानता तथा नैष्ठिक बुद्धि ऐसी है कि वह कथा-प्रसंग के बीच में स्थान स्थान पर हमको बतलाते चलते हैं कि—शिवजी ने ऐसा कहा, अथवा काकभुशुंडि ने ऐसा कहा। उत्तरकाड में कथा का उपसंहार करते हुए वह उसे फिर काकभुशुंडि और गरुड़ की बातचीत पर ले आते हैं।

काकभुशुंडि गरुड को सारी कथा सुना देने के बाद गोया अब उस का अभिप्राय समझा रहे हैं। तुलसीदास जी अलग के अलग हैं।

प्रबन्ध-पटुता का एक दूसरा प्रमाण हमको रामायण के वार्तालापों या कथोपकथनों मे मिलता है। कथोपकथन किसी भी कथा के आवश्यक अंग होते है और कथा को सजीवता, चलतापन प्रदान करने तथा पाठक के कुतूहल को बढ़ाने और उसे अधिक अनुरंजित करने मे सहायक होते है। इसके लिए कथोपकथनो मे चुस्ती, विदग्धता, नाटकीय प्रभाव होने चाहिएँ। तुलसीदास जी के कथोपकथनो मे ये गुण हैं। पात्रो और अवसर को देखकर उनके अनुसार ही वार्तालाप कराने मे तुलसीदासजी दक्ष है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद मे चापल्य, मसखरापन तथा बेबसो की झुँझलाहट है, तो कैकेयी-मथरा सवाद मे विश्रंभ-पात्र कुछ धृष्ठता को लिए हुए वाणी की विदग्धता दृष्टिगाचर होती है। रावण-अगद संवाद मे अगद के उत्तरों मे जो गोरवशालिता दीख पड़ती है, हनुमान्-रावण सवाद मे उसका स्थान हनुमान् जी की ओर से प्रबोधना और चेतावनी ने ले लिया है, क्योकि दोनो सवादो मे परिस्थिति तथा पात्र की विभिन्नता है। अंगद, स्वयं राजपुत्र, भगवान् के दूत बनकर गए थे, परन्तु हनुमान्जी का उस भांति का नियोग नहीं था और लका मे उनसे जबरदस्ती (?) छेड़-छाड़ की गई थी (अथवा हनुमान्जी ने ही रामचन्द्र जी का प्रभाव प्रकट करने के लिए स्वय ही छेड़-छाड़ की थी ?)। अतः जब अगद से रावण पूछता है कि तुम कौन हो तो वे केवल उत्तर देते हैं, "मैं रघुबीर-दूत दसकन्धर," परन्तु

रावण के यह पूछने पर कि 'तूने पेड़ क्यों तोड़े और रक्षकों को क्यों मारा' हनुमानजी का उत्तर होता है—

खायेहु फल मोहि लागी भूखा, कपि स्वभाव ते तोरेउँ रूखा।

जिन्ह मोहि मारा तिन्ह मैं मारा

अवश्य ही इस उत्तर में प्रभाव प्रदर्शित करने का उद्देश्य है, परन्तु एक बार हनुमान्‌जी के वचन और कर्म द्वारा रामचन्द्रजी का परिचय प्राप्त हो जाने पर अंगद का केवल इतना ही कहना समीचीन है—' मैं रघुबीर दूत दसकधर।" विशेषणों से विमुक्त, व्याख्यानों से विहीन, एकमात्र 'रघुबीर' नाम का उल्लेख करना गौरव और महिमा की दृष्टि से व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक व्यंजक और प्रभावोत्पादक है।

वर्णनरीति की दृष्टि से गोस्वामी जी की भाषा "कहीं तो परम कवितामयी हो जाती है और कहीं बिलकुल व्यावहारिक और सीधी-सादी। कारण यह कि तुलसीदास जी ऊँचे विद्वान् और कवि भी थे और उन्हें लोक-व्यवहार का भी अच्छा अनुभव था। जहाँ वह प्रभु के गुणों का तथा उनके सौंदर्य का वर्णन करते हैं अथवा जहाँ वे प्रकृति की शोभा का दर्शन करते-कराते हैं वहाँ भाषा में कविता स्वाभाविक रूप से फूट पड़ती है और जहाँ उन्होंने हमारे जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओं तथा कार्यों का वर्णन किया है वहाँ भाषा भी व्यावहारानुकूल सीधी-सादी अथवा चलती पुर्जी हो गई।" भाषा की व्यावहारिकता का एक रूप उसका मुहावरेदार होना भी है। तुलसीदास जी ने मुहावरों का काफ़ी

प्रयोग किया है, जैसे—'पसारि पाँव सूति हौ' (पाँव पसार कर सोता हूँ) अथवा 'लैबे को एक न दैबे को दोऊ' (लेना एक, न देना दो)। स्वय भी कितनी ही ऐसी अनुभव जन्य उक्तियाँ कहीं हैं जो बाद मे कहावत-स्वरूप हो गई, जैसे—"चेरि छाँडि नहि होउब रानी,' 'मूँड मुँडाइ भये सन्यासी,' आदि।

अवसरानुकूल भाषा को कोमल या ओजपूर्ण बना देना इनके हाथ का खेल था। 'कंकण किंकिणि नूपुर-धुनि सुनि' मे सचमुच कंकण आदि का कोमल सगीत ही सुनाई देने लगता है। उधर वीर-रौद्र आदि के प्रसग मे ओज का साक्षात् अवतार हो जाता है। राम द्वारा, शिवधनुष तोड़े जाने पर—

डिगति उर्वि अतिगुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकठ मुक्खभर। ...
ब्रह्मड खंड कियो चड धुनि, जबहि राम सिव धनु दल्यो॥

रामचरितमानस मे तो माधुर्य और प्रसाद जैसे भरा पड़ा है। एक प्रकार से तो जहाँ जहाँ ओज का अवसर नहीं है वहाँ सर्वत्र ही प्रसाद का प्रवाह है, माधुर्य तथा प्रसाद का संयोग नीचे के सवैये मे कैसा अच्छा है—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अगनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।
सग सुबधु, पुनीत प्रिया मनों धर्म-क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥
(कवितावली)

तुलसीदास जी बडी सुव्यवस्थित भाषा लिखते थे। अनेक पुराने कवियों की भाँति इनके वाक्य विशृंखल या निरन्वय नहीं है। शब्दों का तोड-मरोड भी इनमे दूसरों की अपेक्षा बहुत कम है।

इनको कई भाषाओं पर अधिकार था। सस्कृत के ये विद्वान थे और इनका पाडित्य गहरा था जिसका अनुमान हमको इनकी रचनाओं के अध्ययन तथा 'नानापुराणनिगमागमसम्मत यत्' आदि से हो सकता है। तुलसीदास जी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों ही मे कविता की है, और कहीं कहीं ये अरबी-फारसी के शब्दों को काम मे लाने मे भी नही हिचकिचाए हैं। इसका यह मतलब नही कि ये आजकल की बहु-अनुरुद्ध 'हिन्दुस्तानी' भाषा को उस काल मे जन्म देना चाहते हैं। सब कुछ होते हुए भी इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी ही है। इसके अतिरिक्त तुलसीदास जी ने अपने समय तक प्रचलित सब तरह की पद्धतियों मे रचना की है। प्रबन्ध काव्य, स्फुट काव्य, गीतिकाव्य, दोहा चौपाई-कवित्त-सवैया आदि, ग्राम-गीत, विवाहादि के समय के गीत—सब कुछ ही—इनकी रचना मे हमको देखने को मिलते हैं। अलग-अलग, भाषा भी सब की अनुकूलता ग्रहण करती चलती है।

वर्णन-रीति मे इनकी अलंकार-पद्धति पर विचार करना रह गया है। सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इनका अलकार-प्रयोग भाषा और भाव के अनुकूल, दोनों का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए हुआ है। वह स्वाभाविक है, उसमे जबरदस्ती की ठूँस-ठाँस या

खींचातानी नही है। अवसर पर सभी प्रकार के अलंकार आगए हैं, परन्तु अधिकता रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा की है। उपमा और रूपक का सकर बहुत जगह होगया है। लंबे लबे साग-रूपक इनके जैसे शायद ही किसी दूसरे कवि ने कहे हो। इस तरह के रूपक कुछ दुरूह होगए हैं, परन्तु किसी आध्यात्मिक तत्व को सागोपाग समझाने के लिए ही उनका विशेषत प्रयोग हुआ है। दूसरे साग-रूपक उतने बडे नही हैं। बालकाड के आरभ मे सत-समाज के ऊपर यह रूपक कहा गया है—

मुद-मगल-मय सत-समाजू। जो जग जगम तीरथराजू।
राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-विचार-प्रचारा।
बिधि-निषेध-मय कलिमलहरनी। करमकथा रबिनदिनि बरनी।
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मगलदेनी।
बटु बिस्वासु अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा।
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहि अति अनुराग।
लहहि चारि फल अछत तनु, साधुसमाजु प्रयाग॥

तुलसीदास जी की रचनाएँ सासारिक लोगो के लिए कल्पतरु के समान हैं। जो व्यक्ति भक्ति या अध्यात्म की चिन्ता नहीं करता वह भी अपने लोकायतिक जीवन के लिए उनमे तो ऐसे ऐसे अनुभव-सत्य इकट्ठे कर सकता है जिनसे, यदि वह उनको पालन करे तो, अपनी संसार-यात्रा में बहुत कुछ सफल हो सकता है।

अनुभवजन्य व्यापक सत्य को 'सूक्ति' कहा जाता है। गोस्वामी जी की रचनाएँ 'सूक्तियों' का भंडार हैं, क्योंकि वे अनुभव का भंडार हैं। यदि उन सबका संग्रह किया जावे तो एक दूसरी रामायण बन जावे। यहाँ केवल कुछ थोड़े से अनुभव-रूप सत्यों का उल्लेख किया जाता है—

नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद विसाल।
कदली बदली बिटप गति, पखेहु पनस रसाल॥
फूलइ फलइ न बेत, यदपि सुधा बरसहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सत॥
होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम।
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक तें धूम॥
काटे पै कदली फरे, कोटि जतन करि सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाँटे पै नव नीच॥
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति, विजय विभूति॥
जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भल।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत ही॥
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्है बिलोकत हानि॥
मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥
सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै सिर मानि।
सो पछताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि॥
भलो भलाई पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु॥
सचिव बैद गुरु तीनि जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज-धर्म तन तीनि कर, होइ बेगही नास॥
जेहि को जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना, जहाँ कुमति तहँ बिपति-निधाना।
पर-उपदेश-कुसल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।
कर्म-प्रधान बिश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा।
बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट संग जनि देहि बिधाता।
जेते दुख दारुण जग नाना, सब तें अधिक जाति-अपमाना।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।
कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।
नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं, प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।

तुलसीदास जी की महिमा-गरिमा का अनुमान लगाना एक छोटे से लेख की सामर्थ्य के बाहर है। इस महर्षि-महाकवि का पाश्चात्य महानुभावों तक ने स्तोत्रगान किया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेंट स्मिथ की एक सम्मति का अनुवाद यहाँ कविता-कौमुदी के प्रथम भाग से उद्धृत किया जाता है—

"वह कवि हिन्दी कविता-कानन मे सबसे बडा वृक्ष है। उनका नाम न तो आईन-ए-अकबरी मे मिलेगा और न मुसलमान इतिहासकारो की पुस्तकों मे, और न उनका पता किसी फारसी इतिहासकार के बयान से तैयार की हुई किसी योरोपीय लेखक की पुस्तक मे ही लगेगा। तो भी वे अपने समय मे भारत मे सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। यहाँ तक कि उन्हे अकबर से भी बडा कहा जा सकता है। क्यों कि लाखों स्त्री और पुरुषों के हृदय पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की है, वह उस बादशाह की जीती हुई कितनी ही लडाइयों से अधिक चिरस्थायिनी है।

"यह कवि तुलसीदास थे··· ··

"जिस ग्रंथ पर उनकी कीर्ति अवलंबित है उसका नाम 'रामायण' है। इस ग्रंथ का ईश्वरवाद ईसाई धर्म से इतना मिलता-जुलता है कि उसमे से बहुत से प्रसंग राम के स्थान ईसु रखने से ईसाइयों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। ग्रियर्सन कहते हैं और ठीक कहते हैं कि किसी प्रार्थना-संग्रह मे उन्हे स्थान मिल सकता है ··· 'हिन्दी साहित्य मे यह ग्रंथ अद्वितीय है। इसके प्रभाव के विषय मे कुछ कहना असंभव है।··· ··· · ·"

मीराबाई

जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेडता नामक जागीर के चौकडी गॉव मे मीराबाई का जन्म हुआ था। इनके जन्म-सवत् के बारे मे ऐकमत्य नही है, परन्तु सामान्यत इनका जन्मकाल सवत् १५५५ और १५६० के बीच मे माना जाता है। इसी तरह इनके परलोक-गमन का सवत् भी एक मत क अनुसार १६०३ कहा जाता है, पर भारतेन्दु ने उसे १६२० और १६३० के बीच मे बताया है।

मीरा का विवाह उदयपुर के राणा सांगा के बडे लडके भोजराज के साथ सवत् १५७३ मे हुआ। विवाह होने के बाद दस बरस के भीतर ही भीतर ये विधवा हो गई। पुरातन जन्मों के सस्कार से इन्हे बचपन मे ही कृष्णभक्ति का चसका लग गया था। कहा जाता है कि जब ये बिलकुल छोटी ही थीं तब एक साधु इनके पिता के घर आया था जिसके पास कृष्ण की एक प्रतिमा थी। मीराबाई उस प्रतिमा के लिए मचल गई और उसे लेकर ही मानी। उस प्रतिमा को ये विवाह के बाद अपने साथ सुसराल भी लेती आई।

कृष्णभक्ति की तल्लीनता मे उन्होंने अपने विवाहित जीवन को लोकानुमत रूप मे अगीकार नही किया था। अत वैधव्य प्राप्त होने पर भी उनके ऊपर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। वे साधु-सन्तों तथा महात्माओं की संगति मे अपना समय बिताने लगीं। इनके देवर विक्रमादित्य, जो उस समय राणा थे, इनको इस

मार्ग से विपथ कराने के लिए तरह-तरह के उपाय करने लगे। उन्होंने कई स्त्रियाँ इन्हें समझाने के लिए भेजीं, पर मीरा के पास पहुँच कर वे भी उन्हीं के रंग में रँग गईं। तब राणा ने अपने कुल की बदनामी के डर से मीराबाई के प्राण ही लेने का इरादा कर लिया, उन्होंने उनके पास विष का पात्र भेजा, पिटारी में बंद कर के साँप भेजा। परन्तु विषपान से मीरा का कुछ भी अहित न हुआ और पिटारी में साँप के स्थान में सालिगराम निकले। मीरा ने इन घटनाओं का स्वयं ज़िक्र किया है—

राजा रूठै नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कह जाणा।
राणै भेज्या जहर पियाला, इमरत करि पी जाणा॥
डबिया में भेजा जु भुजगम, सालिगराम करि जाणा।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पाणा।

जब इनको बहुत अधिक सताया गया तो ये मेवाड़ छोड़कर चली गईं। मालूम होता है समाज ने भी इनके साथ अधिक उदारता का बर्ताव नहीं किया होगा, क्योंकि अपने पदों में इन्होंने स्थान स्थान पर लाज, कुलकानि आदि त्याग देने का निर्भीकता-पूर्वक उल्लेख किया है, जिसकी शायद इन्हें ज़रूरत न पड़ती यदि लोगों ने इस तरह की बातें कह कह कर इन्हें बदनाम करने की प्रवृत्ति न दिखाई होती।

कहा जाता है कि एक बार मीराबाई वृन्दावन के साधु जीव गोसाईं के दर्शन करने के लिए पहुँचीं। जीव गोसाईं स्त्रियों से नहीं मिलते थे और उन्होंने मीराबाई से मिलने से इनकार कर

दिया। इस पर मीराबाई ने उत्तर दिया कि मैं तो सिवा कृष्ण के सबको स्त्रीवत् ही समझती थी, पर आज मालूम हुआ कि आप भी एक पुरुष हैं। तब गोसाईं जी बड़े शरमाए और स्वय ही बाहर आकर उन्होने मीराबाई का स्वागत किया। मीराबाई के बारे मे यह भी प्रसिद्ध है कि अपने सबधियों द्वारा बहुत अधिक त्रासित की जाने पर इन्होने तुलसीदास जी को एक पत्र लिखकर उनसे पूछा था—'हमकू कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई।' तुलसीदास जी ने इसका यह उत्तर दिया था—

जाके प्रिय न राम बैदेही

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

सत रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा ने स्वय इस बात को कहा है। "मीरा ने गोब्यन्द मिल्या जी, गुरू मिल्या रैदास।" कबीर की भाँति मीरा ने भी गुरू की बहुत बडी महिमा बताई है, और सत्संग को भी बडा महत्त्व दिया है।

मीरा के पदो मे यद्यपि कही कहीं ब्रह्मवाद, 'निरगुन सेज,' 'अनहद की झनकार' आदि का जिक्र आया है, तथापि वे निर्गुणोपासिका नही थी। वे कृष्ण की मोहिनी मूर्ति पर अनन्य रूप से अनुरक्त थी और उनको अपने पति के रूप म मानती थीं। कृष्ण के प्रेम से उनकी आत्मा सराबोर थी। वास्तव मे उनको उपासिका-मात्र कहना अनुचित होगा। उनकी भावना उपासना के क्षेत्र मे बहुत ऊँची उठकर उत्कट प्रणय का रूप बन गई है। निर्गुणोपासना का ज्ञान के साथ जो सबध रहता है उसकी इनके निर्गुणसबधी

पदों मे झलक होते हुए भी इनका प्रेम ज्ञान से व्याप्त नहीं हुआ है, बल्कि प्रेम ही ज्ञान को व्याप्त कर लेता है। 'ज्ञानगली' से निकल कर, 'ऊँची अटरिया' की 'निर्गुणसेज' की ओर अग्रसर होती हुई भी, मीरा मिलनोत्सुका प्रणयिनी के शृंगार में ही सुख पाती है, जैसे—

मान अपमान दोऊ धर पटके निकसी हूँ ग्यानगली।
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडला सोहै सिन्दुर माँग भरी।
सुवरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी॥

इसी प्रकार इस पद मे—

मैं गिरिधर रँगराती, सैयाँ०।
पँचरँग चोला पहिरि सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती।
चंदा जासी सूरज जासी जासी धरण अकासी।
पवन पाणि दोनूँ ही जासी अटल रहै अविनासी।
सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसा की करले बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगा ले जग रह्या दिन ते राती।
सतगुरु मील्या साँसा भाग्या सैन बताई साँची।
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासी।

'पंचरग चोला', 'झिरमिट', 'खोल मिली तन गाती' आदि मे व्यग्य लक्ष्य है, तथापि इस की ध्वनित मनोवृत्ति पूर्ण शृगार की ही है और 'गिरिधर रँगराती' तथा 'मीरा दासी' का वाच्य उस मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण है।

मीरा का 'गिरिधर' या 'गोपाल' पूर्ण पुरुष के रूप मे 'अबि-नासी' है और, अभेद के कारण, स्थान स्थान पर, उसे राम भी कह दिया गया है। फिर, अन्यत्र उसके नाम 'नारायण', 'गोविंद' आदि भी हो जाते हैं। पर जिस किसी रूप में भी हो, मीरा उसकी प्रणयिनी हैं। समय समय पर, जब प्रणय-लालसा अति तीव्र हो उठती है तो, मीरा उसके पूर्णपुरुषत्व को विलीन करती हुई सी उसे अपना 'बालम', 'मोहन', 'पिया', 'सजन' आदि कहने मे सकोच नही करती। आगे प्रणय की किसी अन्य भावस्थिति मे वह उसे 'साहब' और 'महाराज' भी कह लेती है, और उसको सलाम भी भेजती है, जिसमे दीनता और विनति का प्रश्रय रहता है, यथा—

> छोडी छोडी कुल की लाज साहिब तेरे कारणों।
> थोड़ी थोडी लिखूँ सलाम बहुत करि जाणज्यो।
> बदी हूँ खानाजाद मेहर करि मानज्यो ।
> मीरा चरणाँ की दास ॥

मीरा अपने प्रणयपात्र के प्रेम की उत्कटता मे हर समय 'दरद-दिवानी' रहती थीं। इस दरद-दिवानीपन के एक पक्ष मे वह परम साहसी और निर्भीक है और दुनिया का सब कुछ त्याग कर लोगों को चिल्ला चिल्ला कर सुनाती फिरती है—'मीरा गिरिधर

हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगडी', 'बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ', 'म्हारो कोई न रोकनहार,' 'कुल की कान छाँडि दई' होनी होय सो होई' आदि। पर दूसरे पक्ष मे वह नितान्त अबला है, उसका सपूर्ण आत्मभाव आत्मसमर्पण मे बह चुका है, और उसकी कातर दृष्टि टेक के लिए अपने प्रभु की ओर ही लगी रहती है।

बड़े यत्न से, बड़े कीमती जल से, उसने अपने प्रेम की बेल को सींचा है। "अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेल बोई।" इस प्रेम से उत्पन्न हुए दरद की अवस्था मे तो वे विरहोत्कंठिता ही दिखाई देती हैं, परन्तु दूसरी अवस्थाओं मे हम उन्हे कभी तो मिलन आशा से उत्सुक और उत्फुल्ल नवयौवना नायिका के के रूप मे भी देखते हैं और कभी कृतमगला सयुक्ता के रूप मे भी। इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत उनके संचारियो और अनुभावों के रूप मे कहीं उपालभ दिखाई देता है, कही निहोरे किये जाते हैं और कहीं दीनता घर दबाती है और मीरा अपने को पामाल कर लेती है। इन्ही भाव-परिवर्तनों के अनुरूप मीरा का नायक भी मोहन, साँवरिया, सजन, महाराज आदि भिन्न-भिन्न रूपों मे उसके सामने प्रकट होता है। साराश यह है कि जिस जिस बदलने वाली स्थिति मे मीरा अपने आप को पाती है उसके अनुसार ही उनकी भाव-परंपरा के परिवर्तन से, उनके स्वामी के रूप भी बदलते रहते हैं। प्रभु के इन भिन्न-भिन्न रूपों को स्वतन्त्र मानकर उन्हे मीरा के तत्संबंधी दृष्टिकोण का भेद समझना हमारी भूल होगा। वे मीरा के ऐकरस्य की केवल संचारी अवस्थाएँ भर हैं। जैसे जैसे मीरा

का प्रेम भिन्न-भिन्न भावस्थितियों मे संचरण करता हुआ बढ़ता है, इसे हम कतिपय उदाहरणो द्वारा देखेंगे।

सूरदासजी की गोपियों के हृदय मे जो 'तिरछे ह्वै जु अड़े' थे उन्होंने अपने समस्त अगों की टेढ़ाई से मीरा के नेत्रों को भी उलझा लिया है—

निपट बंकट छबि अटके।
देखत रूप मदनमोहन को पियत पियूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगधरस अटके।
टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के॥

ये रूपलुभानी मीरा अपनी मिलनोत्सुकता मे कहती है—

(क) म्हाने चाकर राखोजी, गिरिधारी लला, चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसन पासूँ।
बिन्द्राबन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ।
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
साँवरिया के दरसन पाऊँ पहिरि कुसुंभो सारी।
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दैहैं, प्रेमनदी के तीरा॥

(ख) सुख की सेज बिछाऊँगी।
पिया पलंग पे जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

मिलन हुआ भी परन्तु विछोह देने के ही लिए, विरह-वेदना उत्पन्न करने के लिए—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पीव आए
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पीव ढूँढ न पाए
और सखी पिव सोइ गमाए, मैं जु सखी पिव जागि गमाए।

इसके बाद विरह की वेदना आरम्भ हो जाती है—

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलन कैसे होइ री।
आये मेरे सजना, फिर गये अँगना, मैं अभागण रही सोइ री
फाड़ूँगी चीर, करूँ गल कथा, रहूँगी बैरागण होइ री
चुरियाँ फोरूँ, माँग बखेरूँ, कजरा मैं डारूँ धोइ री
निसि बासर मोहि बिरह सतावै, कल न परत पल मोइ री
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी, मिलि बिछरो मत कोइ री।

पिय बिन सूनो छै जी म्हारो देस।
ऐसा है कोइ पीवकूँ मिलावै तन मन वरूँ सब पेस
तेरे कारण बन बन डोलूँ कर जोगण को भेस।
अवधि बदीती अजूँ न आए, पडर होइ गया केस।
मीरा के प्रभु कब र मिलोगे तजि दियो नगर नरेस॥

तदुपरान्त मीरा सँदेसा भेजती हैं—

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस ···· ······।
जोगणि होइ जुग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ।
सावण आवण कह गया बाला कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आँगलिया री रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला जोबन वाली बेस।
दासी मीरा राम भजि के तम मन कीन्हो पेस॥

इस समय मीरा की वेदना बहुत बढ गई है। वे उसके कारण दीवानी हो रही हैं। उनकी इस वेदना को कौन समझेगा ? उसे केवल दो ही व्यक्ति समझ सकते हैं—जिसको वह वेदना हो रही है, या फिर जिसने उस वेदना को उत्पन्न किया है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जानै, की जिण लाई होइ॥

इस दरद का कोई इलाज भी नहीं है। है भी तो केवल एक ही—

दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहि कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब बेद साँवलिया होइ॥

पपीहा 'पिउ, पिउ' चिल्लाता है, उसकी वाणी से विरहिणी का दरद और भी बढ जाता है। उसे उसकी बोली बुरी लगती है, झल्लाहट पैदा होती है। वह उसके पख वख सब तोड कर फेंक देगी और, पपीहे को 'पिउ' कह कर पुकारने का अधिकार ही क्या है ? संसार मे केवल एक ही 'पिउ' है और वह मीरा का है, वह किसी और का नहीं हो सकता—

पपइया रे पिव की बानी न बोल।
सुणि पावेली बिरहणी रे थारी रालेली पाँख मरोड़।
चोंच कटाऊँ पपिया रे ऊपर कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे तू पिव कहै सु कूण॥

पर दूसरों पर झुँझलाने से क्या होगा, जब उनका पीव स्वयं ही नटखट हो गया है, कठोर हो गया है। वह अब औरों के साथ खुद ही रमने लगा है—

आप न आवे, लिख नहिं भेजे, बान पड़ी ललचावन की।

या फिर—

हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बड़े कठोर।
तुमसे हमसूँ कबर मिलोगे, हमसी लाख करोर॥

मीरा अब अच्छी तरह समझ गई हैं कि—

श्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो।
औरन सो खेले धमार, म्हासूँ मुख हूँ ना बोले हो।
म्हारी गलियाँ ना फिरै, वाके आँगन डोले हो।
म्हारी अंगुली ना छुवै, वाकी बहियाँ मोरै हो।
म्हारी अँचरा ना छुवे, वाकी घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रँगरसिया डोले हो।

ईर्ष्या की इस अवस्था मे उपालंभ होते हुए भी, मीरा मे मान की कमी है, क्योंकि मीरा पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकी है। अत. उसमे दैन्य, निवेदन, मनावन ही का विशेषत प्राधान्य है। इसलिए वह कहती है—

अबके जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ बिराज।
म्हे तो जनम जनम की दासी, थे म्हाका सिरताज॥

अथवा—"हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ बिलम नहिं कीजिये।
मीरा चरणों की दास, दरस अब दीजिये।"

चरणों की दासी के नाते मीरा दया की भिक्षा माँगती हैं— "अब तो बेगि दया करि साहिब, मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ" और उनके प्रभु ने जिन जिन पहले के अधमों पर दया की है उनकी कोटि

मे अपने को रखती हुई निवेदन करती है—"हमने सुनीछै हरि अधम उधारन .. गज की अरजि गरजि उठि धायो . रिखपतनी पर किरपा कीन्हो मीरा के प्रभु मो बंदी पर एती अबेर भई किस कारण।" दैन्य, आत्म-तिरस्कार और प्रार्थना के इस स्वर मे उसके "सैयाँ", "साँवरो" की ध्वनि नहीं रह गई है, जिसके साथ कि वह "खोल मिली तन गाती", प्रत्युत वह अब "अधम-उधारन हरि" हो गया है। पर, यह सब होने पर भी, मीरा का हृदय कहाँ जाएगा ? 'मो बंदी' (या बाँदी) के विशेषाधिकार को वह कैसे भूल जाए ? हाँ, निराश विरही के आत्मनिग्रह के रूप वह यहा तक कहने को तैयार है—

म्हारे नातो नाँव को रे और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल बिरहणी रे, दरसण दीजो मोइ ॥

मीरा की विरह-वेदना को देख कर कौन न पसीजेगा, किसे दया न आएगी ? निष्ठुरता की भी हद ही होती होगी । मीरा का भी भाग्य जागा है। प्रभु के आगमन के शुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महाराज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरै साज।
उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणी छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेगि मिलो महाराज ॥

लो, वह आ भी गया । मीरा की मनचाही हो गई । और, उस

का 'प्रभु हरि अविनासी' उसके घर उसका 'साजन' बनकर आया है। मीरा की खुशी का ठिकाना नहीं—

सहेलियाँ साजन घर आया हो।
बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिव पाया हो।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो।
पिया का दिया सनेसडा ताहि बहोत निवाजूँ हो।
पाँच सखी इकठी भई मिलि मगल गावे हो।
पिय का रली बधावणा आनद अंग न मावे हो।
हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बँध्या सनेह हो।
मीरा सखी के आँगणे दूधाँ बूठा मेह हो॥

मीरा की मानसिक वृत्ति के अन्वेषण मे कोई कोई महानुभाव रहस्यवाद को भी उसके किसी किसी पद मे ढूँढने की कोशिश करते है। आजकल की आलोचना-प्रवृत्ति मे हम लोग कुछ अधिक रहस्य-प्रधान अथवा रहस्यप्रवण होगए है और प्राय कवियों तथा कविताओं मे रहस्य के लिए विशेष चौकन्ने रहते है। इसका कारण शायद आज कल के कुछ कवियों की रहस्यवादात्मक रुचि है जो सब को पसन्द नहीं आती। उसी की विरोधात्मक तुलना के लिए हम प्राचीन कवियों मे से सच्चे रहस्यवाद को निकाल ला कर दिखाते हैं।

वैसे तो, कबीर वाले लेख मे हमने कहा है, हम सब ही थोड़े-बहुत रहस्यवादी हैं, और हमने यह भी बताया है कि ऊँचे महात्मा तथा भक्त तो, अपनी जीवन-गति तथा भावधारा मे, पूर्ण रूप से रहस्यवादी होते ही हैं। इस दृष्टि से मीरा भी पूर्ण रहस्यवादिनी है

(अथवा, कहना चाहिए, रहस्यभाविनी) हैं, क्योंकि, तर्क दृष्टि से, मीरा के लिए जीवव्यक्ति तथा परमव्यक्ति के युग्म के अतिरिक्त दूसरा युग्म ही नहीं है और पतिपत्नी का लौकिक युग्म उस एक युग्म का प्रतीक मात्र है। परन्तु स्त्री होने के कारण मीरा ने उस एकयुग्म की भावना को लौकिक पत्नी के हृदय से ही देखा है, लौकिक युग्म को पारमार्थिक युग्म की छाया मे नहीं। कबीर स्त्री नहीं थे, इसलिए वे 'राम की बहुरिया' बन कर भी बहुरिया के हृदय से राम को ग्रहण न कर सके, वे केवल बहुरिया के आदर्श को ही पकड सके और राम को निर्दिष्ट न बना सके। यहाँ सगुण साधना और निर्गुण साधना का भेद भी आ जाता है। मीरा के राम या गोविंद (अथवा जिस किसी नाम से भी उन्हें पुकारा जाए) पूर्ण रूप से निर्दिष्ट हैं और मीरा भी अपने पत्नीत्व मे पूर्ण रूप से निर्दिष्ट है। मीरा के प्रभु परब्रह्म आदि होते हुए भी उनके प्रेम के लिए तो व्यक्ति ही हैं। इसीलिए उनके दरद का भी जो रूप है वह इतना स्पष्ट है।

ऐसी हालत मे यदि हम मीरा के किसी पद मे प्रकृति का हँसना खेलना देख लें तो उसी एक पद में रहस्यवाद की प्रवृत्ति को क्यो ढूँढे ? प्रेमी भावक के लिए प्रकृति के पदार्थों को देखने तथा उनसे भावसग्रह अथवा उनको भावप्रदान करने की मुमानियत तो है नही। लौकिक प्रेमी भी क्या अपनी संयोग और वियोग की अवस्थाओ मे प्रकृति को देख कर आनन्दित अथवा खिन्न नही होते ? वसंतवाटिका मे खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्प क्या दो संयोगियों

को हँसते हुए नहीं दिखाई देते ? तब मीरा के 'दादुर मोर पपइया' आदि ने ही क्या अपराध किया है कि उन्हे मीरा के मधुर मिलनोत्सव मे सहयोग न देने दिया जाए ? मीरा की गहरी प्रेमभावना मे इस प्रकार रहस्यभाव की पुट देना उसके प्रेम की गहराई को बहुत कुछ उथला बनाना है।

मीरा के प्रेम की निर्दिष्टता तथा उसके दरद का पूर्ण रूप एक बार स्पष्ट हो जाने पर मीरा के इस प्रकार के वर्णन हमारे सामने उसके भाव के उद्दीपनों के रूप मे उपस्थित होते हैं जो मीरा के अनुभावों तथा संचारियों को प्रेरित करते हैं। उसकी ज्ञान आदि से संबंध रखने वाली उक्तियों को भी इसी प्रकार के व्यक्त संचारियों (अनुभावों ?) के रूप मे ग्रहण करने से ही मीरा का भी वास्तविक रूप हम समझ सकेंगे। सूर को सूर साहित्य का नायक मानते हुए हम उनकी इस प्रकार की उक्तियों को सूर के संचारी इसलिए नहीं मान सकते कि सूर मे वह दरद—दिवानापन—स्थायी रूप मे नही दीखता जो कि मीरा में है। सूर मे पांडित्य-लालसा तथा अपने पांडित्य का ज्ञान भी खूब था और कृष्ण के प्रति वात्सल्य तथा शृंगार मे में रँग कर भी उन्हे बहुत सी दूसरी बातें कहने की फ़ुरसत थी। कबीर मे भी जो विचारों का विरोध दिखाया गया है वह यथार्थ विरोध ही है, किसी स्थायी भाव का संचारी नहीं, क्योंकि कबीर जिज्ञासु मात्र थे। दरद का (या किसी भी प्रकार का) अविच्छिन्न स्थायी भाव यदि हमे किसी मे दिखाई देता है तो केवल मीरा मे।

मीराबाई कवि नहीं थी। कवि बनने का उसका उद्देश्य नहीं

था। परन्तु जिस स्थिति मे मीरा ने अपने को पहुँचा दिया था उसमे वाणीमात्र और कविता मे कोई भेद नहीं रह जाता। मीरा का हृदय ही कविता का आदिस्वरूप बन गया है। उसमे से जो कुछ भी निकलेगा वह दरद-दीवानी की कसक के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? उस कसक का केवल भावुकता के साथ अनुभव किया जा सकता है। उसको शास्त्र की छुरी से उधेड़ना कसक के रूप को भ्रष्ट करना और अपनी अहार्दिकता का विज्ञापन करना है। ऊपर जो संचारियों, अनुभावों आदि का जिक्र आया है वह मीरा की रचना की चीर-फाड के लिए नहीं, बल्कि मीरा के हृदय के थोडा बहुत निकट पहुँचने के लिए। इसीलिए यह भी कहने मे कोई संकोच नही होना चाहिए कि मीरा की स्थिति मे, जहाँ वाणी और कविता एक होकर जागती है, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, ससार के भिन्न भिन्न संबधों, उपासना-पद्धतियो तथा भिन्न-भिन्न तात्विक सिद्धान्तो मे भी कोई अलग भेद नही रहता। वे सब हृदय की एक अविराम प्रेमधारा की ऊँची-नीची लहरो के रूप मे ही दृष्टिगोचर होते है।

मीरा की भाषा मे राजस्थानी, गुजराती और ब्रज का सम्मिश्रण है। कहा जाता है कि गुजराती मे भी मीराबाई की कुछ रचना पाई जाती है। उनकी लिखी हुई दो अन्य रचनाएँ 'नरसीजी का मायरा' और 'रामगोबिन्द' भी बताई जाती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी 'कविता कौमदी', भाग १, मे लिखा है —"मीराबाई संस्कृत भी जानती थीं। उन्होंने 'गीत-गोविन्द' की टीका लिखी है।'

केशवदास

केशवदास का समय मिश्रबन्धुओं ने संवत् १६१२ (या १६१८) से संवत् १६७४ तक माना है। परन्तु बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'कविता-कुंज' मे केशवदास के परिचय मे, इसे १५६४—१६८० बताया है।

केशवदास ओडछे के रहने वाले थ और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। सनाढ्यों को ब्राह्मणों मे ये परम महिमान्वित मानते है और यहाँ तक कहते हैं—'सनाढ्य जाति सर्वदा, यथा पुनीत नर्मदा। सनाढ्य वृत्ति जो हरे, सदा समूल सो जरें।' इस प्रकार की मनोवृत्ति अच्छी मनोवृत्ति नही है, परन्तु अपनी वंश-परंपरा के गौरव क साथ साथ कदाचित जाति-गौरव की भी भावना को उन्होंने स्वाभाविक रूप से मिला लिया होगा। इनके पूर्वज बराबर संस्कृत के धुरीण विद्वान् होते आए थे। उनमे से किसी ने 'भावप्रकाश' नामक आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा था और स्वयं इनके पिता काशीनाथ ज्योतिःशास्त्र के सुपरिचित ग्रंथ 'शीघ्रबोध' के निर्माता थे। अपने कुल मे केशवदास ही हिन्दी के पहले लेखक हुए हैं जिस का केशवदास ने स्वयं इस प्रकार जिक्र किया है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास॥

तथा—भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केसवदास॥

उस समय ओडछे के राजा रामसिंह थे, परन्तु वे अधिकतर दिल्ली मे रहा करते थे और उन्होंने राज्य का कार-बार अपने छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर छोड रक्खा था। इन्द्रजीतसिंह के यहाँ केशवदास का बड़ा मान था। वे वस्तुत इन्हे अपना गुरु मानते थे और उन्होंने इनको बहुत कुछ जागीर आदि दी थी। केशवदास ने कहा है—"भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग, केसोदास जाके राज राज सो करतु है।"

इन्द्रजीतसिंह की इच्छा से इन्होंने अपने पहले ग्रथ 'रसिक-प्रिया' की रचना की। इन्द्रजीत के दरबार मे उनकी बहुत-सी रखैल नाचनेवालियाँ भी थी जिनमे प्रवीणराय बड़ी प्रतिभावती थी। केशवदास जी उसके भी गुरु थे और उसे कविता सिखाते थ। उस के लिए उन्होने 'कविप्रिया' लिखी। प्रवीणराय की स्तुति करते हुए इन्होने उसे रमा, शारदा आदि की कोटि मे रक्खा है।

संवत् १६६२ मे अकबर मर गया और उसका लडका जहाँगीर सम्राट् हुआ। इसके कुछ समय बाद जहाँगीर के एक कृपापात्र वीरसिंह ने रामसिंह से ओड़छे का राज्य छीन लिया। केशवदास उसके भी राजकवि हुए और उसकी तथा जहाँगीर की खुशामद मे इन्होने 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' नामक रचनाएँ की। इन्द्रजीतसिंह, प्रवीणराय तथा वीरसिंह के अतिरिक्त केशवदास राजा बीरबल तथा एक किसी अमरसिंह के भी कृपा-

भाजन थे। 'कविप्रिया' मे उन्होंने इन दोनों व्यक्तियों के दान का वर्णन किया है। राजा बीरबल ने तो, कहा जाता है, एक स्तुति-पूर्ण छन्द पर इन्हे तत्काल छै लाख रुपया दे डाला और अकबर द्वारा इन्द्रजीतसिह पर किए गए एक करोड के जुर्माने को माफ करा दिया। वह छन्द इस प्रकार है—

पावक पंछी पसू नर नाग नदी नद लोक रचे दसचारी।
'केसव' देव अदेव रचे नरदेव रचे रचना न निवारी।
कै वर वीर बली बलवीर भयो कृतकृत्य महा व्रतधारी।
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ कर तारी॥

इस छन्द को सुनाकर केशवदास भी कृतकृत्य हुए और कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए उन्होंने पुन: दूसरा छन्द रचकर सुनाया जो यह है—

केसवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो।
छोड़े छुट्यो नहि धोये-धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं जब वीर बली बलवीर निहारयो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो॥

इनके 'रसिक-प्रिया' और 'कविप्रिया' काव्यशास्त्र-संबंधी लक्षण-ग्रंथ हैं, जिनको इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर बनाया था। परन्तु, मालूम होता है, उनकी रचना के लिए किन्हीं अधिक माननीय ग्रंथों का अध्ययन इन्होंने नहीं किया। उनमे काव्य के वाह्यांगों का ही विवेचन है, वह भी बहुत कुछ भ्रान्त-सा। 'कवि प्रिया' मे काव्यालंकार तथा काव्यदोष दिए गए हैं जिनका बहुत

कुछ आधार दंडी का 'काव्यादर्श' है परन्तु अलंकारो तथा दोषों के नामों मे इन्होंने अपनी तरफ से भी बहुत कुछ फेरफार कर दिया है। दडी के 'काव्यादर्श' मे रसादिक का विवेचन नहीं है। परन्तु रस तथा ध्वनि जैसे किन्ही तत्वो के विषय मे दंडी ने सुन अवश्य रक्खा था, जिन्हे अच्छी तरह समझ न सकने के कारण वे उन्हे 'रसवत्' अलकार से ऊँचा न उठा सके। केशवदास ने भी 'रसवत्' अलकार को माना है। यद्यपि इन्होंने 'रसिकप्रिया' मे नौ रसो तथा भावभेदो का प्रसग उठाया है परन्तु दंडी की भाँति वे भी रस-सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयगम न कर सके। उन्होंने तमाम रसो को शृगार मे ही मिलाने की चेष्टा की है। परन्तु केशव के समय तक हिंदी मे लक्षणग्रथ-रचना की पद्धति चली नही थी। केशवदास इस दिशा मे एक प्रकार से अग्रणी है, अतएव अपने इन दो ग्रंथों के कारण वे आचार्य कहे जाते हैं।

केशव-रचित अन्य ग्रन्थों के नाम 'नख-सिख', 'रतन-बावनी', 'रामचद्रिका' और 'विज्ञान गीता' हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने पिगलशास्त्र की भी कोई पुस्तक लिखी थी, परन्तु उसका अभी कोई पता नहीं चला है। इनके तमाम ग्रन्थों मे रामचन्द्रिका सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसके कारण इनको 'महाकवि' की उपाधि दी गई है। रामचन्द्रिका को लोग महाकाव्य कहते हैं। केशव जी ने कहा है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने स्वप्न मे वाल्मीकि जी के कहने से की और तभी से उन्होंने रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव बनाया। "बालमीकि मुनि स्वप्न महँ दीन्हो दर्शन चारु।" इसके

बाद ऋषि से रामनाम का उपदेश ग्रहण करके "केशवदास तहीं करयो रामचन्द्र जू इष्ट।"

परन्तु रामचन्द्र का इष्ट करने पर भी ये रामचन्द्र के कोई भावुक भक्त थे, ऐसा रामचन्द्रिका के पढने से नही मालूम होता। परपरानुगत रूप मे, जिस तरह बहुत से सासारिक करते हैं, राम को बडे से बडा ईश्वर मानते हुए भी केशवदास उनके लिए कही द्रवित होते नही दिखाई देते, और न उनका वर्णन करने मे यथोचित मर्यादा का ही ध्यान रखते हैं। कारण इनका राजसी जीवन और इनकी रसिक—(लौकिक के रूप मे, भावुक के रूप मे नही)—प्रकृति कही जा सकती है। अपनी रसिकता के लिए तो ये बदनाम से भी हैं। केशव का निम्नलिखित विषादपूर्ण दोहा बहुत-से लोग जानते हैं और इनको समस्त रचनाओं मे इनका यह दोहा ही शायद सबसे अधिक प्रसिद्ध है—

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहि।
चंद्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि॥

फलत हम देखते हैं कि 'रामचन्द्रिका' मे राम का वर्णन अधिकतर शृगारपूर्ण है। एकाध स्थान पर स्त्रैण भावसूचक भी है, जैसे वनवास मे—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को, शुभ बाकल अंचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चचल चारु दृगंचल सों॥

इसमे राम और सीता, दोनों ही की मर्यादा पर पानी फेर दिया गया है। वनवास के बाद जब रामचन्द्र राजधानी को लौट आकर

राजकार्य सँभालते हैं और भिन्न भिन्न स्थलों अथवा विभागों का निरीक्षण करते हैं तो उन्हें धनागार, सुगंधागार, जलशाला और मेवाओ के भंडार के अतिरिक्त और कोई डिपार्टमेंट मुआइने के लिए मिलता ही नहीं—इतने बड़े बड़े शत्रुओं का विध्वंस करने वाले, अश्वमेध-यज्ञ सपन्न करने वाले, इतने प्रतापी राजा की राजधानी मे क्या कोई आयुधागार तक नहीं था ? राजसी ठाट-बाट की चमक-दमक तथा शृगारी वृत्ति की झोक मे केशवदास यह भी भूल गए कि आगे चलकर इन्ही राम के विषय मे उन्हें यह कहना है कि—

नाद पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि सोखि जल भूरि भूरि थल गाथ की।
केशोदास आस पास ठौर ठौर राखि जन,
तिनकी सपति सब आपने ही हाथ की।
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की
मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥

केशवदास की रामभक्ति कुछ ऐसी पोच-सी तथा ऊपरी प्रतीत होती है कि उनकी कृत्रिम वृत्तियों के प्रवाह मे वह बिलकुल बह जाती है। बहुत से उपमानों को खोजने की बेतुकी बहक मे वे एकदम भूल जाते हैं कि राम कौन है और उनके बारे में वे क्या कह रहे हैं। वे उन्हे चोर, उल्लू, साँप आदि तक कह जाते हैं।

यथा—

चतुर चोर से शोभित भए। धरणीधर धनशाला गए।

तथा—बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,

चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चँपत है।

केका सुनि ब्याल ज्यो बिलात जात घनश्याम

परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से यही राम वे राम हैं जिनके लिए उनके ससुर जनक तक यह कहते हैं कि—

सिद्ध समाधि सजै अजहूँ न कहूँ जग जोगिन देखन पाई।
रुद्र के चित्त समुद्र बसै नित ब्रह्मतु पै बरनी नहिं जाई।
रूप न रंग न रेख विसेष अनादि अनन्त जु बेदन गाई।
केसव गाधि के नंद हमैं वह ज्योति सो मूरतिवंत दिखाई॥

केशव की राम-भावना के संबंध मे इतना जान लेने पर हमारी यह आशा नहीं रहती कि उनकी रचनाएँ भक्तिकाव्य के ढंग की होंगी। इससे ही हम यह भी अनुमान कर सकते है कि प्राकृत काव्य की दृष्टि से भी हृदय की किसी सात्विक वृत्ति की गंभीरता अथवा जीवन के व्यापक रूप की ओर किसी प्रकार की निर्व्याज सहानुभूति उनके कवि-कर्म मे हमको कम दिखाई देगी। एक ओर तो वे अपने इष्टदेव तक के प्रति अपने भावों को एक-रूपता नहीं दे सकते और दूसरी ओर वे बुढ़ापे पर कुढ़नेवाले रसिक-शिरोमणि रईस तथा पूरे रईस-मिजाज दरबारी कथक (या कवि) हैं, जो एक स्वामी के ह्रास के बाद उस पर अत्याचार करनेवाले दूसरे व्यक्ति को ही अपना प्रभु बना लेते हैं और चाटुवादों द्वारा अपना ऐश्वर्य बढ़ाते

हैं। जागीर की रक्षा की दृष्टि से 'वीरसिंह-देवचरित' तक भी गनीमत थी, परन्तु 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का लिखा जाना जिन परिस्थितियों में आवश्यक हुआ उन्हें जाने बिना केशवदास की मनोवृत्ति में किन्हीं चरित्रमूल उदार सिद्धान्तों का ढूँढना निरर्थक है। व्यापक मानव-जीवन अथवा सामाजिक सूत्रों के प्रति सहानुभूति रखने का प्रश्न तो दूर है, केशव की रचनाओं में घर के भीतर की सामान्य समस्याओं—दाम्पत्य-संबंध, वात्सल्य, प्रेम आदि की संवेदनाओं तक का कोई रूप दिखाई नहीं देता। दरबारी जीवन के बनावटीपन तथा उसकी पाबंदियों ने, मालूम होता है, केशव में सहृदयता तथा पारस्परिक संबंधों की सहज भावुकता को अधिक पनपने का अवकाश नहीं दिया। इसीलिए अपने कविकर्म के प्रति भी उनको कोई सहृदयता नहीं है, उसमें कृत्रिमता है, उसे भी वे अधिकतर दरबारी पोशाक ही पहनाने की चेष्टा करते हैं, जिसमें संभ्रम के कारण अकसर मिस्सी और सुरमे का स्थान बदल जाया करता है।

कुछ महानुभाव केशव की कविता पर बहुत लट्टू हैं और उसमें से ढूँढ ढूँढ कर गुणों की खोज किया करते हैं। हम यह नहीं कहते कि केशव में कहीं भी कवित्व दिखाई नहीं देता। किसी कर्म का अभ्यास स्वयं अपने गुणों से खाली नहीं होता, और केशव ने लिखा भी काफी है। गुणों के स्थान पर हम उनके गुणों पर भी दृष्टिपात करेंगे। परन्तु केशव की कविता के गुणों को सराहने के लिए, हम समझते हैं, पहले उसके अवगुणों को जान लेना ज्यादा अच्छा है।

अभी कहा गया है कि केशव की कविता मे कृत्रिमता बहुत है। इस कृत्रिमता का रूप है कवि की अतिशय अलकार-प्रियता। केशव जबरदस्ती, मौके-बेमौके, अपनी उक्ति को सजाने की धुन मे रहते हैं, गोया कि उसको वह नुमाइश की कोई चीज़ या राज-दरबार की नर्तकी बनाना चाहते हों। इस अलकार-प्रियता का कारण उनकी पाडित्य-प्रदर्शन की स्पृहा और अलकारों की कसरत मे सरकस के से चमत्कार दिखाने की उत्कट लालसा है।

इसके परिणामरूप मे केशव की कविता मे एक बडी भारी बुराई भाववैषम्य की पैदा हो जाती है। भाव से प्रेरित उक्ति में जो अलंकार स्वाभाविकतावश आजाते हैं वे उपयुक्त भाव को प्रेरित करने मे, या कम से कम मन को विनोदित करने मे, सहायक होते हैं। "ये नागपुर की इमरतियाँ चार आने सेर" पुकार पुकार कर अपने संतरों के ठेले को गली गली फिराने वाला व्यक्ति भी कोई बहुत बुरा अलंकारी कवि नही है। अलकार के दो ही उपयोग तो हैं—अर्थ-सौकर्य या भावसौकर्य और चमत्कार द्वारा आनन्द-प्रदान। आनद-प्रदान भी अर्थ-सौकर्य का ही आश्रयी है। संतरा बेचने वाले के शब्दों मे हमे ये दोनो तत्व मिलते हैं। परन्तु केशव मे अर्थ सौकर्य तो कहीं भूले-भटके ही हाथ लग जाए तो लग जाए। कारण, कि उनके पास अर्थ की, कहने के लिए किसी चीज़ की, कमी है।

केशव का पाडित्य-प्रदर्शन प्राय: सन्देह तथा उत्प्रेक्षाओं द्वारा उपमानों का जमघट उपस्थित करने मे दिखाई देता है। परन्तु उपमान तो घर की दीवारों के भीतर या राजदरबारों में बिकते नहीं

विशेषत सार्थक, साभिप्राय उपमान। अत' केशवदास जी कही तो श्लेष द्वारा अप्रयोज्य उपमानों को बटोरते हैं, कहीं शब्दसाम्य-मात्र की शरण लेते हैं और कहीं अपनी खोज के लिए अमूर्त मनोलोक या अध्यात्म जगत् की यात्रा करते है। नीचे के उद्धरण मे एक दर्जन उपमानी रगरूट ड्रिल के लिए पंक्तिबद्ध खड़े दिखाए गए है—

पजर के खजरीट नैनन को केशोदास,
कैधौं मीन मानस को जलु है कि जारु है।
अग को कि अंगराग गेंडुवा कि गलसुई,
किधौ कोट जीवही कौ उरको कि हारु है॥
बधन हमारो कामकेलि को कि ताडिबे को,
ताजनो बिचार को कै व्यजन बिचारु है।
मान की जमनिका के कजमुख मूँदिबे को,
सीताजू को उत्तरीय सर्ब-सुख-सारु है॥

उधर श्लेप की अलौकिक शक्ति यह है वह जगलों को आदमी बना सकता है। दंडक वन किस तरह पंच पाडव बन जाता है यह नीचे के छद मे द्रष्टव्य है—

पाडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥

उसी शक्ति से वन कभी अमूर्त हो कर राज-सेवा का रूप भी ग्रहण कर लेता है और बिल्वफल के रूप मे अपनी मज़दूरी पा लेता है। उसके तत्काल ही बाद वह प्रलयकाल की ज्वालाओं का दृश्य भी उपस्थित कर देता है, यथा—

वाटिका का भी सौंदर्य हृदयगम किया जा सकता है। बेपर की उडान का एक और उदाहरण नीचे दिया जाता है—

> भृकुटी विराजत स्वेत मानहु मत्र अद्भुत साम के।
> जिनके विलोकत ही बिलात अशेष कार्मुक काम के॥
> मुख बास आस प्रकास केशव भौंर भीरन साजहीं।
> जनु साम के शुभ स्वच्छ अक्षर ह्वै सपक्ष विराजहीं॥

भरद्वाज की सफेद भौहे सामवेद के मत्र हो गई। सामवेद के सफेद मत्र कभी देखे होगे तो अवश्य अन्दाज़ा हो जाएगा कि वे भौहे कैसी थी। भरद्वाज के मुख की सुगंध से भौंरे घिर घिर कर आ रहे थे जो सामवेद के मत्रो के अक्षर थ। लाला भगवानदीन जी ने इस छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार माना है। परंतु केशवदास जी शायद अकेले उत्प्रेक्षा की ही बात नही सोचते थे, उनके मन मे शायद साग-रूपक की वासना भी तडप रही थी जिससे 'काम के कार्मुक' और 'मुखवास' के भिन्न मार्ग मे जाकर भी एक बार मुड कर फिर साममत्रों के अक्षरो की ओर देख लिया परंतु काम के कार्मुक और मुखवास के व्यवधान तथा उपमेय भौंह के निरंग होने के कारण साग-रूपक बन नहीं सका। इसके अतिरिक्त, उक्त छंद मे यद्यपि विरोधाभास तो नही है, पर भाववैषम्य पैदा करने वाला प्रकृत विरोध अवश्य है। सफेद मत्रों के काले काले अक्षर! और वे उड भी रहे हैं, मत्रो (भौंह) से एकदम तटस्थ होकर! मुश्किल यह है कि इसे असंगति भी तो नही कह सकते। केशवदास के छंदों मे इस तरह का बहु-अलकार-संभ्रम प्राय: देखने को मिलता है।

कभी कभी यह भी देखने मे आता है कि अलंकार-तुमुलता न होने पर भी, तथा किसी उक्ति के अवसरानुकूल होते हुए भी, दूर-ध्वनि अच्छी नहीं निकलती। लव और कुश के द्वारा राघवों की सेनाओ का बुरी तरह सहार होने पर भरत राम से कहते हैं—

बालक रावण के न सहायक, ना लवणासुर के हित लायक।
है निज पातक वृक्षन के फल, मोहत है रघुवंशिन के बल॥

यह सही है कि भरत नही जानते कि बालक (लव-कुश) राम और सीता के पुत्र हैं, परन्तु केशव और रामचन्द्रिका के पाठक इस बात को अवश्य जानते है। इसके अतिरिक्त बहुत शीघ्र ही लव-कुश की असलियत खुलने वाली भी है। ऐसी दशा में उन्हे किसी पात्र के मुख से 'निज पातक वृक्षन के फल' कहलवाना भावी के संबध मे एक अशुभता और कौलीन की अव्यक्त ध्वनि देना है। और दुर्भाग्य से भाग्य का कटु व्यग्य इस ध्वनि को सहारा दे रहा है, क्योंकि वहाँ बाप और बेटो का प्रलयकर युद्ध उपस्थित है। यदि ध्वनि में कुछ भी सचाई होती तो हम उसी को पूर्व सूचना (Dramatic Irony) के रूप मे काव्यकार का गुण मान सकते थे।

पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ के कारण अलंकार-तुमुलता, उसके लिए संगृहीत भिन्न भिन्न उपायों, तथा उससे पैदा होने वाले प्रथम दोष, भाव-वैषम्य, को हमने देख लिया। दूसरा भारी दोष जो उससे उत्पन्न होता है वह प्रबंध मे देखने मे आता है। रामचन्द्रिका के रचयिता होने के नाते केशवदास प्रबन्ध-कवि भी कहलाने का

दावा कर सकते हैं। परन्तु भाव के प्रति उनको अत्यंत उपेक्षा रहने से हमें उनके प्रबन्ध-काव्य में प्रबंध की हीनता दिखाई देती है।

पारिभाषिक संज्ञाओं में हम राम के अपनी पत्नी तथा पुत्रों से मिलन को काव्य का 'कार्य' कह सकते हैं और राम को 'फलागम' का अधिकारी या काव्य का नेता। सीता 'आलंबन' हैं। इस दृष्टि से काव्य का स्थायीभाव 'रति' होगा और नायक 'धीरललित' या राम की लोकप्रसिद्ध विशेषताओं के कारण, 'धीरोदात्त'। धीर-ललितत्व या धीरोदात्तत्व का निर्णय 'अनुभाव' और 'संचारी' कराएँगे। इनके द्वारा पुष्ट होकर स्थायी 'रति' को 'शृगार' रस की पदवी प्राप्त होगी।

केशव की प्रवृत्तियों के सहारे, सभव है, यह कह दिया जाय कि 'रामचन्द्रिका' शृंगारी काव्य है। उसमें 'पुष्पवती' वाटिका या कन्या के जैसे वर्णन जो हैं, इसलिए। परंतु क्या इस ग्रंथ में 'शृंगार रस' भी है? शृंगार रस की पुष्टि के लिए नायक का स्थायी रति-भाव कहाँ है? संयोग के, या विप्रलभ के, या पुन' सयोग के दिनों में राम अपने आलंबन के लिए किन किन भावपरंपराओं तथा चेष्टाओं में लीन होते दिखाई देते हैं? संक्षेप में, फलस्वामित्व के लिए उनकी कितनी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और वे उसके लिए कितना उद्योग करते हैं?

इन सब का उत्तर तो हमको 'न'-कार में ही मिलता है। रामचन्द्रिका के आकार का अधिकांश विभव, शोभा तथा पदार्थों आदि के वर्णनों में ही अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। चन्द्रिका

के उत्तरार्ध का तीन-चौथाई भाग रामचन्द्र जी की दैनिक-चर्या—उनका उठना-बैठना, भोजन करना, सोना, जागना, कुल्ला करना आदि—रूपशोभा, ऐश्वर्य, स्त्रियों की जलक्रीडा, नखशिख और षड्ऋतुओं आदि के वर्णन मे ही खप जाता है जिसमे सीता और राम के अपने समागम-सुख का कोई दर्शन नही होता। इन सब के वर्णनों मे रम कर पाठक के लिए यह अनुमान करना कि अभी फलागम मे देर है और कथा का कुछ हिस्सा बाकी है, बडा कठिन है। भ्रम तो यह होता है कि फलागम हो चुका और अब उसके उपलक्ष्य मे कवि उत्सव मना रहा है। राम को भूल कर कवि अपने विलासों मे मग्न हो गया है। राम जैसे मनुष्य ही नही हैं, उनके हृदय ही नहीं है, वे केवल यंत्रवत् हैं जिनसे काम लेने की जरूरत कवि को कभी कभी अपनी उपमान कल्पना या राजम वासना के विनोद के लिए पड जाती है।

जिसे भारतीय परिभाषा मे संचारी आदि कहते हैं उसे ही आजकल की बोली मे अन्तर्जगत् कहा जाता है। अन्तर्जगत् के इस अभाव मे स्थायीभाव का ख़याल, और फलतः नेता और उसके आलंबन का भी ख़याल, एक मज़ाक हो जाता है। फिर अन्तर्जगत् के अभाव से ही उद्दीपनरूपी वाह्यजगत् भी तिरोहित हो जाता है। रामचन्द्रिका में जो दो चार तरह के दृश्य, प्राकृतिक स्थल या परिस्थिति आदि आए हैं वे वस्तुतः मुख्य पात्रों के लिए उद्दीपन-रूप मे नहीं बल्कि कवि की चमत्कार-कल्पना के ही उद्दीपन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अलंकरण-शक्तिद्योतन के अवसर केशवदास को

रूप या पदार्थों के वर्णन के समय मिलते हैं। ये वर्णन प्रायः चित्रण के रूप मे नही हैं और न वे रूपों या पदार्थों के किसी व्यापक या व्यक्तिगत अभिप्राय को ही प्रकट करते हैं। केशवदास ने उनको केवल अपने उपमानों की कुश्ती के अखाडे के रूप मे अंगीकार किया है। पीछे आए हुए उदाहरण इस बात का प्रमाण हैं। वास्तव मे, नायक की उद्देश्यहीनता के कारण रामचंद्रिका भी, कथा के रूप मे, उद्देश्यहीन है। वह केवल एक उदाहरण ग्रंथ की भाँति है जिसमे केशवदास ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि वे कितने प्रकार के छंद बना सकते थे तथा अलंकारों अथवा अलंकार-संकरों मे अपनी कल्पना कहाँ तक दौडा सकते थे।

उद्देश्यहीनता, अथवा, दूसरे शब्दों मे, अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत के अभाव के कारण रामचंद्रिका की कथा मे कहीं भी आगे बढने की, अग्रसर होने की, सामर्थ्य नही दिखाई देती। इसमे कार्य-व्यापार बिलकुल नही है। केशवदास के लंबे-चौडे वर्णनो के बाद जहाँ कही व्यापार दिखाने का अवसर आता है वहाँ वे एकदम बडी सफाई से पत्ता काट जाते है। उदाहरण के लिए हम ग्रन्थ के प्रारंभिक भाग को ही देख सकते है। विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने दशरथ के पास जाते हैं। वहाँ पहुँचाते पहुँचाते केशव ने उन्तालीस छंदों मे उन्हे अयोध्यापुरी और राजदरबार की सैर कराई है। इसके बाद चौदह छंदों मे राजा, विश्वामित्र और वसिष्ठ का वार्तालाप है। फिर छै-सात छदों मे राम-लक्ष्मण तपोवन की शोभा देखते हैं। शोभा देख चुकने पर

जब रक्षा के हेतु बैठते है तो ताडका आ जाती है जिसे वे स्त्री समझ कर नहीं मारना चाहते। पर खैर, ऋषि के समझाने से राम उसे मारते हैं, और एक ही छद मे उसके साथ ही साथ, मारीच आदि अन्य दैत्यों को भी मार देते हैं, यद्यपि अन्य दैत्य उत्पात करने के लिए यज्ञ-भूमि मे आए तक नही है। और बस, यह हुआ कि अगले ही छंद मे दोनों भाई जनक के धनुष-यज्ञ की कथा सुनने लगे। अयोध्याकाड के आरंभ मे दशरथ ने इरादा किया कि राम को राज्य दे दूँ। इसके आगे के ही छंद मे कैकेयी ने झट निश्चय किया कि राम को वन मे भेजूँगी और उसने चटपट राजा से अपने दो वर माँग लिए। तब तत्काल ही 'उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।' पर उठि चले के बाद भी राम 'विपिन कहँ' न जाकर अपनी माता को एक लबा-चौडा उपदेश दे देने पहुँच जाते हैं और तदनन्तर क्रमश. सीता और लक्ष्मण को घर पर ही रहने की शिक्षा देते हैं। पर हाँ, राम-लक्ष्मण-संवाद सुनते ही सुनते हमे एकाएक दीख पडता है कि 'विपिन मारग राम विराजही सुखद सुदरि सोदर भ्राजहीं।' इस बार ये सचमुच चले गए हैं।

लगभग सर्वत्र ही इस प्रकार जब कभी किसी लबे-चौडे वर्णन या संवाद के बाद कथा कहने का मौका आता है तो केशव-दास जी व्यापार की एक संक्षिप्त सी सूचनामात्र देकर फौरन अलंकारक्रीडा की किसी दूसरी रंगस्थली मे जा उतरते हैं। कथा उनकी दृष्टि मे नितान्त गौण चीज है। प्रसगों को जोडने के लिए वे सूचना से उतना ही काम लेते हैं जितना कि वस्तु-सार

(Synopsis) लिखने में सयोजक या विभाजक रेखाओं (hyphens और dashes) से लिया जाता है।

व्यापार रूप में अन्तर्जगत् की कोई विशेष छाया रामचन्द्रिका में न होने के कारण केशवदास के पात्रों में चरित्र-चित्रण की किसी विभूति को पाने की भी आशा नहीं करनी चाहिए। वाणी के रूप में संवादों में उनके पात्र अवश्य अपना कुछ परिचय देते हैं, परन्तु वह उतनी ही देर का परिचय है जितनी देर कि वे बातचीत करते हैं। इसका नतीजा कभी कभी यह होता है कि जब कोई पात्र किसी दूसरी जगह अपना उसी तरह परिचय देता है तो उसके दोनों स्थानों के परिचयों में कुछ फर्क पड जाता है। पहले के राम बाद में सीता को निर्वासित करते समय अपने भाइयों को इस तरह डाँटते हैं मानो वे उनके कोई अति क्षुद्र नौकर हों या फिर मानो राम को सीता से ही कोई द्वेष हो और वे उनके लिए किसी की भी सिफारिश न सुनना चाहते हों। भरत जब तर्क द्वारा उन्हें सीता की पवित्रता आदि की बात समझाते हैं तो रामचन्द्रजी उत्तर देते हैं "हाँ भाई, जो कुछ तुम कहते हो वह बिलकुल सच है, परन्तु मेरी तो इस समय कुछ ऐसी ही इच्छा है (अर्थात् सीता को निकाल देने की)।" शत्रुघ्न के साथ तो वे इतनी भी भलमंसाहत से पेश नहीं आते। चुप करने के लिए सीधे-सीधे कह देते हैं—

तुम बालक हो बहुधा सब में, प्रति-उत्तर देहु न फेरि हमें।
जु कहैं हम बात सो जाय करो, मन मध्य न और विचार धरो॥

शत्रुघ्न के उपरान्त लक्ष्मण को तो जबान खोलने तक की

आज्ञा नही दी गई। भरत और शत्रुघ्न के चले जाने पर लक्ष्मण जी कही उन्हीं की तरह राजा को समझाने की धृष्टता न करने लगे, इस आशंका से उन्हे तत्काल ही आदेश, और आदेशभंग की दशा मे दडव्यवस्था, दोनों, सुना दिए गए—

सीतहि ले अब सत्वर जैये, राखि महावन मे फिरि ऐये।
लक्ष्मण जो फिरि उत्तर दैहो, शासनभंग को पातक पैहो॥

क्या ये वही राम हैं जिन्होंने लक्ष्मण के लिए विलाप किया था अथवा जिन्होंने कुत्ते तक की फ़रियाद सुन कर उसी के द्वारा ब्राह्मण को दड दिलाया था। सभव है शत्रुघ्न के एक कटु व्यग्य के कारण वे इस समय राजप्रभुत्व से काम ले रहे हों। परन्तु उनके राजशक्ति के ज्ञान का केवल यही एक अवसर देखने मे आता है, और वह भी सीता-निर्वासन के मामले मे, जिसके लिए उनके पास इसके सिवा और कोई दलील नही है कि 'मेरो कछू अबहि इच्छ यहै'।

चरित्र-चित्रण के सिलसिले मे केशव के संवादो का भी ज़िक्र आगया है। इसमे संदेह नहीं कि कौतूहल बढाने, सजीवता प्रदान करने तथा चरित्र-चित्रण और व्यापार को अग्रसर करने मे संवादों अथवा कथनोपकथन का विशेष उपयोग रहता है, परन्तु राम-चन्द्रिका मे व्यापार और चरित्र-चित्रण का अभाव होने के कारण उसके संवाद अपनी परिभाषा-सीमा से बहुत आगे बढ गए हैं तथा, वर्णनों की भाँति, वे ग्रंथ के भीतर उसके एक प्रकार के स्वतंत्र से अंग मालूम होते हैं। सीता-स्वयंवर के समय रावण-बाण-विवाद

बिलकुल फालतू, अप्रासंगिक है। इसी तरह रावण-अगद-संवाद भी, मालूम होता है, केवल विवाद दिखाने के लिए ही रक्खा गया है।

केशवदास अपने संवादों को व्यर्थ ही बढा देते हैं। रावण और वाण का संवाद छब्बीस छदों मे है और निरुद्देश्य है। दोनो पात्र निरर्थक ही आपस मे झगडते हैं, केवल एक दूसरे को अपने से हीन बताने के लिए, परन्तु उस समय की परिस्थिति पर या संपूर्ण कथा की किसी भी परिरिथति पर उनकी हीनता अहीनता के इस प्रख्यापन का कोई असर नहीं पडता। वाण का तो वस्तुत कथा मे भी कोई सबंध नही है। फिर, हम यह भी देखते हैं कि किसी विवाद को बहुत अधिक बढा कर केशव उसका सफल, स्वाभाविक, अवसान नहीं करा पाते। छब्बीस छदों तक वाग्युद्ध मे रत रह कर सत्ताईसवे छद मे रावण कहता है कि अब तो 'जब लौं न सुनौं अपने जन को, अति आरत शब्द हते तन को' तब तक यहाँ से टलूँगा नहीं। एक तरफ उसका तो यह कहना हुआ और दूसरी तरफ, अठाईसवें छद मे, 'आरत शब्द अकाश पुकार्‌यो', जिसे सुन कर रावण 'छोडि स्वयवर जान भयो तब' मानों कही बैठा हुआ कोई राक्षस अपने मालिक से सिखाया जाकर टेलिफोन द्वारा इन लोगों की बात-चीत सुन रहा था और ऐन मौका देख कर वह चिल्ला पडा। रावण-अंगद-विवाद का भी अन्त अकस्मात् ही हो जाता है। रावण के साथ बहुत देर तक घट-बढ बातें करते रहने के पश्चात् बिना किसी पूर्वाभास के ही 'अंगद रावण को मुकुट ले करि उडो

से विहीन करके फुटकर रचनाओं के रूप मे ही पढ़ेंगे तो कदाचित् उनके दूषणों की गंभीरता भी कुछ कमी हो जायगी।

एक बात ध्यान मे रखने की यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य मे हृदय का कुछ न कुछ दृश्य अंश अवश्य विद्यमान रहता है भले ही ऊपर की कृत्रिमताओं और पाबदियों ने उसे कितना भी अन्तर्निलीन क्यों न कर रक्खा हो। केशवदास का हृदय भी हमको कभी कभी दिखाई दे ही जाता है, और बडे सुन्दर रूप म। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले चले। उस समय के राजा दशरथ के अनुभव बडे ही हृदयस्पर्शी हैं—

> राम चलत नृप के युग लोचन, बारि भरित भये बारिद रोचन।
>
> पायन परि ऋषि के सजि मौनहि, केशव उठि गये भीतर भौनहि।

लव कुश द्वारा रघुवंशी सेनाओं के घोर संहार का कोई उपाय न बन पडते देख राम के मन मे विवशता-मिश्रित ग्लानि, दैन्य और विस्मय के सम्मिलित भावों की सूक्ष्म व्यंजना उनके इन थोडे से शब्दों मे कितनी खूबसूरती के साथ की गई है—

> कोऊ दुवे मुनिसुत काकपक्षयुत सुनियत है तिन मारे।
>
> यहि जगतजाल के करम काल के कुटिल भयानक भारे।

सीता निर्वासन के खेद से हर किसी का दिल पका हुआ है। लवकुश के सामने किसी की भी नहीं चलती। भरत हनुमान् जी से कहते हैं कि तुमने पहले तो इतना बडा समुद्र लाँघा था, अब इस युद्ध की नदी को क्यों नही लांघते। तब हनुमान् उत्तर देते हैं—

सीतापद सनमुख हुते गयो सिन्धु के पार ।
विमुख भये क्यों जाहुँ तरि सुनो भरत यहि बार ॥

ऐसे स्थलो मे हृदय की पूर्ण वृत्ति का सहयोग होने के कारण मनोवैज्ञानिक तथ्य भी पूर्ण ही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्वरूप धनुषभंग करनेवाले राम की शोभा को देखकर परशुराम की नीचे दी हुई भावशृखला तथा वितर्कपद्धति मे कितनी सुदरता से दिखाया गया है—

अमल सजल घनस्याम बपु केशोदास,
चंद्र हूँ ते चारु मुख सुषमा को ग्राम है ।
कोमल कमलदल दीरघ विलोचननि,
सोदर समान रूप न्यारो न्यारो नाम है ॥
बालक बिलोकियत पूरण पुरुष गुन
मेरो मन मोहियत ऐसो रूप धाम है ।
वेर जिय मानि बामदेव को धनुष तोरो,
जानत हौं बीस बिसे राम भेस काम है ॥

इन उदाहरणों से यह भी पता लगेगा कि इनमे अलकार ठोकने का कोई विशेष प्रयास नहीं। ऐसे स्थलो पर अधिकाश उक्तियाँ तो अनलकृत ही हैं और जहाँ अलकार दिखाई भी देता है वहाँ वह स्वाभाविक भावप्रवाह मे ही आया हुआ मालूम होता है।

परतु इसका यह मतलब नहीं है कि इरादा करके लाए गए सब ही अलंकार-प्रयोग खराब है। जहाँ अपने कल्पनास्थल के मूल्य को समझ कर कवि ने कल्पना की है वहाँ उनके अलकार भी

सुजान।' इस तरह के विवादपूर्ण संवादों मे हम प्राय. कहावत मे आई हुई बनियों की लडाई का सा स्वरूप देखते हैं। बाण और रावण दोनों घंटा भर तक एक दूसरे पर कीचड उछालते हुए भी बराबर बगले झाँकते से ही नज़र आते हैं। धनुष-भंग के बाद परशुराम के क्रोध मे परशुराम की भी कुछ ऐसी ही बगलें झाँकने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

केशवदास की कविता के ये सब दोष, जैसा कह आए है, उनकी पाडित्य-प्रदर्शन लालसा के ही कारण उत्पन्न हुए है, जिसमे उनका ध्यान बात की या वस्तु की केवल कृत्रिम सुन्दरता की ओर ही जा पाया। यह दरबारी जीवन, चटुवाद तथा ऊपरी तडक-भडक के वातावरण का अवश्यभावी प्रभाव था। चाटुवाद मे स्वयं निर्र्थ-कता हो सकती है परन्तु चाटुवाद द्वारा इतर बातों के कथन मे वह असभवप्राय है। बीरबल को सुनाए गए छदो मे अत्युक्ति की हद हो जाने पर भी उनका कोई अर्थ निकलता है, उनका कुछ असर भी होता है। परन्तु यदि बीरबल को, चाहे कितनी ही खूब-सूरती के साथ, उल्लू की उपमा दी जाती तो वे प्रसन्न न होते, केशवदास ऐसी उपमा देते भी नही, क्योंकि उस समय उन्हे अपने शब्दों की सार्थकता पर ध्यान रखना आवश्यक था। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जीवन की वास्तविक परिस्थितियों मे केशवदास बोलते हैं वहाँ पर निरर्थक नही हो सकते, मन के साथ कुछ उनकी बुद्धि और कुछ उनकी हृदयवृत्ति भी काम करती है।

दरबारी जीवन की नकली एकरूपता मे उनकी अपनी हृदय-

वृत्ति की क्रीडा की परिस्थितियाँ उन्हे कम मिलती होंगी, और जो मिलती होंगी वे अल्पकालिक होती होंगी। इस प्रकार का वातावरण वस्तुतः स्फुटोक्तियो के अधिक अनुकूल है जिसमे मिथ्या प्रयास का अवसर, काफी रहते हुए भी प्रबंध रचना की अपेक्षा कम ही रहता है। प्रबन्धरचना दीर्घकालिक वस्तु है और केशवदास के मानसिक अभ्यास को इतनी मोहलत कहाँ रही होगी कि वे कथाप्रसंगों के पारस्परिक संबधों तथा उनके उद्देश्यों की ओर ध्यान देने अथवा उन्हे याद रखने की चेष्टा कर सके। अतः बहुत से दूषण जो एक कथा के भीतर बहुत बुरे मालूम होते हैं, संभव है, फुटकर वाक्य मे उतने अधिक खटकनेवाले न हों, क्योंकि फुटकर उक्ति मे उसके साथ पात्र, प्रसंग तथा वक्ता श्रोता के औचित्यानौचित्य की आवश्यकताएँ कम या, कभी कभी नही, रहती हैं। उदाहरण के लिए, उल्लूवाली उक्ति मे से प्रसग हटा कर राम, हनुमान् और सीता के व्यक्तित्व को हम भूल जाएँ तो वह किसी ऐसे स्त्रैणवृत्ति नायक का भी वर्णन समझी जा सकती है जिसके प्रति कवि की हमदर्दी के साथ साथ, शायद उपहास करने की भी रुचि रही हो। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि फुटकर उक्ति साधारणत' क्षणिक प्रभाव की चीज़ होती है और उससे उत्पन्न हुई ग्लानि बाद की किसी ज़रा सी भी अच्छी उक्ति से दूर हो सकती है। केशवदास की जो थोडी बहुत फुटकर रचनाएँ मिलती हैं वे उनकी ग्रन्थ-रचनाओं से सामान्यत अच्छी हैं। रामचन्द्रिका के भी अलग अलग टुकड़े कर यदि हम उन्हे प्रसग

भाव-प्रेरक तथा दृश्य चित्र को उपस्थित करने वाले हुए है। वसत ऋतु मे बोलने वाले पक्षियों को अपनी बोली द्वारा युद्ध का आह्वान करने वाले वसतसेना के योद्धा बनाना उचित ही हुआ है, यथा—

फूली लवग लवली लतिका विलोल,
भूले जहाँ भ्रमर विभ्रम मत्त डोल।
बोलै सुहस शुक कोकिल केकिराज,
मानो बसत भट बोलत युद्ध काज॥

कहीं कही उपमान गुणाव्यञ्जक भी हुए हैं, यथा—

अमल कपोलै आरसी, बाहुइ चंपकमार।
अवलोकनै विलोकिये, मृगमदमय घनसार॥

नीचे के उदाहरण मे उत्प्रेक्षाओं द्वारा दृश्यचित्र प्रभावोत्पादक हो गया है—

राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकाश न माई॥
मेटि के पच प्रभूत किधौ विधि रेणुमयी नवरीति चलाई।
दु:ख निवेदन को भुव भार को भूमि किधौ सुरलोक सिधाई॥

क्रियापूर्ण दृश्यचित्रण के दो उदाहरण नीचे दिए जाते है। एक युद्ध का वर्णन है, दूसरा स्त्रियों के जलविहार का—

(क) अति रोष रसे कुश केशव श्री रघुनायक सों रणरीति रचै।
तेहि बार न बार भई बहु बारन खर्ग हने, न गिनैं बिरचैं॥
तहँ कुंभ फटैं गजमोति कटैं ते चले बहि श्रोणित रोचि रचैं।
परिपूरन पूर पनारन ते जनु पीक कपूरन की किरचैं॥

(ख) एक दमयंती ऐसी हरैं हँसि हस वश,
एक हंसिनी सी बिसहार हियो रोहियो।
भूषण गिरत एकै लेती बूडि बीचि बीच
मीनगति लीन हीन उपमान टोहियो ॥
एकै मत कैके कंठ लागि लागि बूडि जात,
जलदेवता सी दिवि देवता विमोहियो।
केशोदास आसपास भँवर भँवत जल,
केलि में जलजमुखी जलज सी सोहियो ॥

कहीं कहीं विशेष भावोत्पादन के लिए प्रयुक्त न होकर भी कल्पना मनोहारी और चमत्कार-वर्धक है, यथा—

(क) फूलन के विविध हार घोरिलन ओरमत उदार।
बिच बिच मणिश्याम हार, उपमा शुक भाषी ॥
जीत्यो सब जगत जानि, तुमसो हिय हार मानि।
मनहु मदन निज धनु ते गुन उतारि राखो ॥

(ख) राजभौन आस पास दीपवृक्ष के विलास,
जगतज्योति यौवन जनु ज्योतिवंत आये ॥

प्रभाव का वर्णन नीचे के छद मे बडा अच्छा है, जिसमे केशवदास का थोडे से हँसने का भी मन कर आया है। यह प्रभाव परशुराम के आने के बाद का है—

मत्त दंति अमत्त ह्वै गये देखि देखि न गज्जही।
ठौर ठौर सुदेश केशव दुंदुभी नहि बज्जही ॥
डारि डारि हथ्यार सूरज जीव लै लै मज्जहीं।
काटि कै तनत्रान एक हि नारि भेषन सज्जही ॥

(यद्यपि प्रसंग के औचित्य को देखते हुए राम की फौज का यह वर्णन अच्छा नही कहा जा सकता।)

केशवदास के संवाद, जो कथाप्रसंग मे प्राय. उखडे-उखडे से प्रतीत होते हैं, अपने स्वतन्त्र रूप मे सचमुच बड़े मनोरंजक और कौतूहल-वर्धक हैं। रावण और बाण का 'बगले झाँकना' भी स्वतंत्र संवाद मे मनोविनोद और चरित्राध्ययन की एक चीज है। केशव के संवादो मे नाटकीय प्रभाव पूर्ण रूप मे मौजूद रहता है। उनमे चटपटापन, चुलबुलापन, व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य के समस्त गुण एक साथ दिखाई देते हैं। सर्वश्रेष्ठ संवाद वे हैं जो राम के वीरों और लव-कुश के बीच मे होते है। लव-कुश के वाक्य प्राय. छोटे छोटे, तथ्यदर्शी और कार्यक्षिप्रता के प्रेरक है। वे चरित्रचित्रण मे भी सहायक होते हैं, उनके द्वारा लव-कुश का बडा अच्छा चरित्र-चित्रण होता है, लवकुश पात्र को देख कर उसके उपयुक्त ही शब्द बोलते हैं और बहुत सी व्यर्थ बाते न कर तत्काल कार्य म सलग्न हो जाते हैं। रामचंद्रिका मे यदि कही कथा दीखती है, कही भावुकता सरसता कौतूहल या प्रवाह दिखाई देता है, कही स्वाभाविक वस्तुवर्णन और चरित्रचित्रण है, तो वह लव-कुश-युद्ध मे। रामचंद्रिका का सब से श्रेष्ठ अंश इस युद्ध का वर्णन ही है। उदाहरण देने के लिए लगभग उस सारे अंश को ही उद्धृत करने की आवश्यकता पडे, जिसके लिए यहाँ स्थान की कमी है, उसे रामचन्द्रिका मे ही पढ कर देखना चाहिए।

केशवदास की विशेष सामर्थ्य राजवैभव के वर्णनों मे देखी

जाती है। राजदरबारों तथा बडे-बडे राजकीय पुरुषों के सपर्क मे रहने के कारण राजमर्यादा राजप्रभुता तथा राजनीति का ज्ञान उनको अवश्य अच्छा रहा होगा। रावण के चरित्र मे राजनीतिज्ञता के दो स्थानों म दर्शन होते है। वाण के साथ अपनी हुज्जतबाज़ी के समय शिवधनुष को उठाने मे असमर्थ होकर वह वाण से कहता है कि धनुष तो पुराना और जीर्ण है, मैने अन्दाजा कर लिया और मै पल भर मे इसे उठा लूँगा, मगर जरा तुम भी आजमाइश कर लो—

धनु अति पुरान लंकेश जानि, यह बात बाण सों कही आनि।
हौं पलक माहिं लैहों चढाय, कछु तुमहूँ तो देखो उठाय॥

उसकी राजनीतिज्ञता का दूसरा अवसर वहाँ है जहाँ वह दूत अंगद को राम की तरफ से फोडने की कोशिश करता है। अगद से वह कहता है—

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुज तिहारे।
आठहु आठ दिसा बलि दै अपनो पदु लै पितु जा लगि मारे॥
तोसे सपूतहि जाय कै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे।
अगद संग लै मेरो सबै दल आजहिं क्यों न हतै बपुमारे॥

जब वह सधि की शर्तें पेश करता है तो भी दूरंदेशी मे अंगद को अपनी तरफ़ मिलाने की चेष्टा मे अपनी नीतिकुशलता को दृढ रखता है। उसकी शर्तें हैं—

देहि अंगद राज तोकहँ मारि बानरराज को।
बाँधि देहि बिभीषणै अरु फोरि सेतुसमाज को॥

पूँछ जारहिं अक्षरिपु की अरु पायँ लागहि रुद्र के।

सीय को तब देहुँ रामहि पार जायँ समुद्र के॥

राजप्रभुता की मर्यादा का ध्यान केशव को कितना था इसका अनुमान नीचे के उदाहरण से किया जा सकता है। रावण के दरबार मे अगद के पहुँचने पर प्रतीहार प्रभाव के लिए ब्रह्मा आदि को इस प्रकार डाँटता है—

पढो बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे।

कुबेर बेर के कही न यक्ष भीर मडि रे॥

दिनेश जाय दूरि बैठि नारदादि संगही।

न बोलु चद मदबुद्धि इन्द्र की सभा नही॥

इस 'इंद्र की सभा नही' पर अवश्य गौर करना चाहिए। ओजपूर्ण वर्णनों के दो-एक उदाहरण पीछे दिये जा चुके है। सब से ज्यादा वे लव-कुशकाड मे देखे जा सकते हैं।

केशव के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा, संदेह और श्लेप हैं। इन तीनों के उदाहरण आगए हैं। हमने केशव के उचित तथा अनुचित दोनों प्रकार के अलंकार-प्रयोग देख लिए हैं। एक अन्य अलकार परिसंख्या का इन्होंने, बहुत तो नहीं पर, अच्छा उपयोग किया है, यद्यपि वैसे तो इन्होंने अपने परिचित सब ही अलंकारों से काम लिया है। परिसंख्या का एक उदाहरण दिया जाता है—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।

होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥

दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में ।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ॥

केवश की भाषा बुन्देलखंडी मिली हुई ब्रजभाषा है। कहीं-कहीं उसमें संस्कृत के विभक्त्यादियुक्त प्रयोग भी आगए हैं, जैसे 'लीलया' 'चलति' 'भजंति' आदि। बीच बीच मे दो एक जगह संस्कृत के श्लोक भी बना कर रख दिए हैं तथा एकाध स्थान पर हिन्दी क्रिया के साथ शेष छंद मे सस्कृत-नियमानुशासित पदावली का प्रयोग कर दिया है। व्याकरण का बहुत जगह उचित पालन नहीं किया गया है, जैसे—'करै साधना एक परलोक ही कौ,' अथवा 'राज देहु जो वाकी तिया कौ।' परन्तु इन बातों को छोडकर, केशव की भाषा मे अधिकतर माधुर्य और प्रसाद गुणों का बड़ा अच्छा सम्मिश्रण देखने को मिलता है और कहीं-कही नाद-सौंदर्य भी बड़ा मनोहर है। नीचे के उद्धरण मे इन सब गुणो का उदाहरण मिलेगा—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।
मजुल वजुल लकुच वकुल कुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुगीफल सोहै।
सारी शुककुल कलित चित्त कोकिल अति मोहै॥
शुभ राजहंस कलहस कुल, नाचत मत्त मयूर-गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहे, केशवदास विचित्र वन॥

हम देखते हैं कि केशवदास मे कवित्व की दोनो प्रकार की सामर्थ्य थी—भावात्मक भी और व्याख्यात्मक भी। परन्तु केशव-दास का, या हिन्दी साहित्य का, दुर्भाग्य था कि उनको परि-

स्थितियाँ विपरीत मिलीं, जिनके कारण उनके यथार्थ गुण तो दब गये और कृत्रिम गुणाभासों की वृद्धि हो गई। उनके प्रच्छन्न गुणों को देखते हुए, उनकी 'महाकवि' की पदवी का अनुमोदन किया जा सकता है तथा, उनके रचना वैविध्य को देखते हुए, शायद 'आचार्यत्व' का भी। परन्तु यदि सब बातों पर एक साथ विचार किया जायगा तो हिन्दी की लंबी कवि-सूची मे उन्हे शायद मध्यम श्रेणी का ही कवि गिना जा सकेगा। उनकी पांडित्य-प्रदर्शन-लालसा के कारण उनकी रचनाओं मे जो अति-क्लिष्टता आगई है उससे उन्हे 'क्लिष्ट कविता का प्रेत' कहा जाता है। किसी ने यह भी कहा है कि यदि किसी कवि को भेंट न देना चाहो तो उससे केशव की कविता का अर्थ पूछो—

"कवि को देन न चहे बिदाई। पूछै केशव की कविताई।"

कदाचित् इसी कारण केशव की कविता के अध्ययन का भी समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि केशव को अच्छी तरह पढ लेने के बाद पुरानी कविता मे प्रवेश करने का मार्ग बहुत कुछ सुगम हो सकता है।

कविवर बिहारीलाल

बिहारीलाल जी का जन्म सवत् १६६० के आसपास ग्वालियर मे हुआ था। ये माथुर ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। परतु मतान्तर के अनुसार ये केशवदास के शिष्य बताए जाते हैं। इनका बचपन बुदेलखड मे व्यतीत हुआ था और यौवन का समय ससुराल, मथुरा, मे। इसके विषय मे इनका दोहा है—

जन्म ग्वालियर जानिये, खड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

इनकी मृत्यु १७१६ सवत् के बाद, संभवत १७२० मे हुई।

ये जयपुर के राजा जयसिंह के कवि थे। जिस प्रसिद्ध दोहे से इन्होंने जयपुर दरबार मे प्रवेश हासिल किया वह यह है—

नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिधो, आगे कौन हवाल॥

उन दिनों महाराज जयसिंह अपनी अप्राप्तयौवना नई रानी मे इतने लीन रहते थे कि महल के बाहर बिलकुल ही नही निकलते थे। बिहारीलाल के दोहे ने उनकी आँखे खोल दीं और महाराज दोहे पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बिहारीलाल को अपना राजकवि बना लिया। सुना है कि ये जोधपुर और बूँदी भी गए थे, परंतु वहाँ ठहरे नहीं।

इनका एकमात्र ग्रंथ इनकी सतसई है जिसमे ७१६ दोहे है। केवल इन ७१६ दोहों की रचना करके ही बिहारीलाल ने हिंदी साहित्य मे वह स्थान प्राप्त किया है जो तुलसीदास जी और सूरदास जी को छोड कर, ख्याति की दृष्टि से, शायद और तमाम कवियों से ऊँचा है। इस ग्रंथ ने जनता के साहित्यिक कौतूहल को इतना उत्तेजित किया कि इसकी तीस चालीस टीकाएँ हो गई। अभी, पद्रह बीस वर्ष पहले, सतसई को लेकर हिंदी के कुछ प्रमुख विद्वानों मे काफी बहसा-बहसी हुई थी जो कई वर्षों तक चली थी। थी। इस रचना की उत्कृष्टता के बारे मे निम्नलिखित दोहा खूब प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं, घाव करैं गभीर॥

सतसई का प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है, अत. यह मुक्तक काव्य है। इसमे शृंगार-रस प्रधान है, यद्यपि कुछ दोहे अन्य विषयों पर भी है। इनकी शृंगारी मनोवृत्ति के प्रमाण मे दो दोहे उद्धृत किए जा सकते हैं—

(क) जौ न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकुति-मुँह दीन।
जौ लहिये सँग सजन तौ, धरक नरकहू की न॥
(ख) ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥

शृंगार के दोनों रूपों, संयोग और विरह, को लेकर बिहारी ने बड़े चुभते हुए दोहे कहे हैं। वे हृदय पर तत्काल और बड़ा गहरा

असर करते हैं। उनमे ध्वनि या व्यंग्य बहुत है, जिससे पाठक का कल्पना-कौतूहल एक साथ जागरित होकर, तृप्ति द्वारा आनंद मे अपना अवसान करता है। काव्य मे आनंद का स्वरूप कथन की रसात्मकता है जो विभाव अनुभाव आदि साधनो पर निर्भर रहती है। बिहारीलाल के दोहे इन्हीं साधन रूप परिस्थितियों के वर्णन द्वारा रसानुभव कराते हैं। कहीं कही, बल्कि अधिकतर, ये परिस्थितियाँ स्वयं व्यंग्य होकर रस अथवा भाव की व्यजना करती हैं। इस प्रकार कभी अनुभावों अथवा सात्विक चेष्टाओं द्वारा प्रसग आदि की व्यंजना करके भावध्वनि कराई गई है, कभी प्रसंग द्वारा सचारियो की ध्वनि देकर भावभूमि तक पहुँचाया गया है, और कभी चित्र अथवा शोभा आदि का वर्णन करके यह उद्देश्य सिद्ध किया गया है। अनुभावों और सात्विक भावों के चित्रण में प्राय स्वभावोक्ति का विलास देखने मे आता है, अन्यत्र श्लेष, अन्योक्ति, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, असंगति आदि अलकार माध्यम बनाए हैं। अनुभावों तथा सात्विक भावों के चित्रण मे मनोविज्ञान का गौरव देखने मे आता है जो बिहारीलाल की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता देता है। प्रसंग के सकेत द्वारा औत्सुक्य की ध्वनि देकर प्रेमातिशय की व्यजना नीचे के दोहे मे अच्छी देखने को मिलती है, जिसमे मुहावरे ने भी अपना ठीक काम किया है—

जदपि तेज रौहाल बल, पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंड़ो घर को भयो, पैंडो कोस हजार॥

प्रसंग के साथ सात्विक के द्वारा संचारी का व्यंग्य इस उदाहरण मे देखा जा सकता है—

नेक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जात नह दी छिनकु, महदी सूखन देहु॥

वस्तु द्वारा वस्तु तथा भाव की व्यजना एव वस्तु द्वारा विभावरूप रूपातिशय और तत्सबन्धी भाव की व्यंजना के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) मोरचन्द्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा मान॥

(ख) लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

इन उदाहरणों से हमे मालूम होगा कि व्यंजना की कई-कई सरणियो मे एक साथ चल कर कवि हमको अन्तिम व्यग्य, भाव-भूमि, पर पहुँचाता है। परन्तु यह बात सर्वत्र ही नहीं है। कभी कभी अनुभावों अथवा सात्विकों से हम एक दम ही भाव को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे—

भौंहनि त्रासति, मुख नटति, आँखिन सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इंची, आगे आवति जाति॥

इस उदाहरण मे स्वभावोक्ति द्वारा जो सात्विकी चेष्टाओं का चित्र उपस्थित किया गया है उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी कितना मनोहर हुआ है। जिस मानसिक भाव का यहाँ पर लक्ष्य है उसमे 'त्रासति' 'नटति' आदि के कारण जहाँ एक ओर

व्यंग्य मे स्पष्टता आगई है वहीं पाठक की प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रिया को एक प्रकार की द्रुतगति सी भी प्राप्त होती है जो उस क्रिया मे व्याप्तता लाकर पाठक को तत्काल भावमग्न करने मे सहायक होती है। ऊपर दिए गए उदाहरणों में व्यंग्य भाव की प्राप्ति सरणियों की भी व्यजना कर के ही कराई गई है। इस पद्धति में प्रायः अध्याहार क्रिया द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यग्य का आश्रय लिया जाता है, जैसे ऊपर के 'लिखन बैठि' वाले उदाहरण मे। बिहारी ने जहाँ जहाँ ऐसा किया है वहाँ अधिकतर वस्तुवर्णन स्वभावोक्ति, अन्योक्ति अथवा काकु के माध्यम से काम लिया है। काकु का प्रयोग कभी कभी विरोधाभास को लेकर भी किया है, जिसकी पद्धति लक्षणा की पद्धति है। लक्षणा की पद्धति अतिशयोक्ति मे बहुत अधिक देखने मे आती है। लक्षणा द्वारा प्राप्य व्यंग्य के दो एक उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं·

रहौ गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार॥
अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥
पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहरायँ।
अँसुवाँ परि छतियाँ छनक, छनछनाय छपि जायँ॥

जहाँ रूप, शोभा ही साध्य है (विभावादि के रूप मे साधन के रूप मे नहीं) वहाँ भी लक्षणा की पद्धति ही विशेषत देखने में आती है और अतिशयोक्ति अथवा उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों को माध्यम बनाया गया है, जैसे—

भूषनभार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ।
सूधे पायँ न धर परत, सोभा ही के भार ॥
ललित स्याम लीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून ।
मधु छाक्यो मधुकर परयो, मनौ गुलाब प्रसून ॥
भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन ।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी अग दुरै न ॥
छप्यो छबीली मुख लसे, नीले अचल चीर ।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥

परन्तु अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का प्रयोग विरहावस्था के वर्णन मे बहुत अधिक हुआ है। ये सब प्रयोग लाक्षणिक हैं। परंतु कही अत्युक्ति की क्रिया को इतना ज्यादा बढा दिया गया है कि लक्षणा भी अपने काव्य के उद्देश्य मे असफल सी हो जाती है। नीचे की उपमा मे जो अत्युक्ति की गई है उससे अर्थबोध या काव्य का सौंदर्य ग्रहण करने मे सहायता नहीं मिलती—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किये नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहिं जाइ ॥

परतु अन्यथा—करके मीडे कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हलाइ ।
सदा समीपिन सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाइ ॥

वस्तुत तो विरह-वर्णन मे भी जहाँ व्यंजना से ही काम लिया गया है वहाँ उक्ति अधिक मनोहर हुई है—

ललन चलन सुनि पलनु मैं, अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिन हूँ, झूँठे ही जमुहाइ ॥

इसका कारण यही है कि व्यंजना-पद्धति मे किन्ही विशेष मानसिक अथवा कायिक अवस्थाओं का एक चित्रण सा उपस्थित होकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा पाठक की सहानुभूति को आकर्षित करके भाव-सान्निध्य को अधिक सरल तथा उपभोग्य बना देता है। लक्षणा मे पाठक की उपपत्ति पहले विपरीत मार्ग का अनुसरण करने के बाद कथन के लक्ष्य को प्राप्त होती है। वाच्य का तिरस्कार उसकी पहली शर्त है। वैसे काम तो लक्षणा से सब ही जगह लिया जाता है—विशेषत अलंकारों मे—परन्तु इसका बढिया और सरल उपयोग हँसी-मज़ाक, व्यंग्य, उपालभ आदि की रचनाओं में शायद ज़्यादा अच्छा होता है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' की अधिकाश उक्तियों से इसका अदाज़ा किया जा सकता है। इसका यह मतलब नही है कि 'भ्रमरगीत' के किसी पद की सारी पद्धति ही लक्षणा की है, क्योंकि लक्षणा तो हमेशा साधनमात्र होती है। व्यंग्य भाव अथवा अवस्था का अधिक चुभता हुआ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रारंभिक सरणियों मे ही इसका कार्य होता है। लक्षणा का साधनरूप मे उपयोग करना ही ठीक है, परन्तु उसे घसीट कर साध्य के नजदीक तक ले जाने से काम ख़राब होता है। इसका उदाहरण "सूछम कटि परब्रह्म लौं" में हम देख सकते हैं। उपालंभ आदि के ढग की उक्तियों मे बिहारी ने कहीं कही लक्षणा से अच्छा काम लिया है, जैसे—

मोहि तुम्हें बाढी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज॥

बिहारी की विवेचना मे इस प्रश्न को उठाने की आवश्यकता इसलिए हुई कि बिहारी के दोहों मे जो संयोगसंबंधी और वियोग-सबंधी चित्र हैं वे प्राचीन शास्त्रीय नायिका-भेद तथा उसके उप-विभागों के ढग पर है। प्राचीन समय के शास्त्रकारों मे ध्वनि और रस को लेकर विवाद हुआ था और ध्वनिमार्गियों ने ध्वनि या व्यग्य को रस की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी थी, क्योंकि उनके अनुसार रसोत्पत्ति भी ध्वनि द्वारा ही हो सकती है। फिर यदि रस ही काव्य का चरम लक्ष्य है और वह अनुभाव, विभाव आदि पर निर्भर है तो हम उन छोटी-छोटी स्फुट कविताओ के बारे मे क्या कहेगे जिनमे आनन्द देने की सामर्थ्य है। ध्वनिसंप्रदाय वालों ने रस को अस्वीकार नही किया है, परन्तु उन्होंने उसे ध्वन्य बतला कर इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि स्फुट काव्य मे भी रसागों की व्यंजना द्वारा रस उत्पन्न किया जा सकता है। तर्क की दृष्टि से बहुत अंश तक ध्वनिमार्ग वालों का यह कहना ठीक भी है।

बिहारी ने प्राचीन नायिकाभेद के आधार पर ध्वनिसंबंधी उपर्युक्त सिद्धान्त का व्यवहार किया है। उनका साध्य भाव हमेशा व्यंग है। साधन मे कहीं लक्षणा का और कही व्यंजना का उपयोग हुआ है, और बिहारी को अपने कर्म मे बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। दोहे जैसे छोटे छंद मे एक साथ कितनी कितनी चीजों की उनके लक्ष्यक्रम से अथवा अलक्ष्यक्रम से व्यंजना कर देना असाधारण कौशल का काम है। ऊपर के दोहों मे व्यग्यक्रम को कुछ स्थूल विश्लेषण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जा चुका है।

जो विश्लेषण उदाहरण के लिए ऊपर किया गया है वह एकात निर्विवाद हो, सो बात नही है। उसका उद्देश्य विश्लेपण का रूप दिखाने का है। एक छोटे से दोहे मे जब बहुत कुछ भरा जाएगा तो स्वाभाविक ही है कि उसमे हरेक बात अति सूक्ष्म सकेतों के रूप मे ही कही जाएगी। ऐसी अवस्था मे इन संकेतों का, कभी कभी क्या, अधिकतर अस्पष्ट रह जाना भी स्वाभाविक ही है। अत. भिन्न-भिन्न पाठक उन संकेतो को भिन्न-भिन्न ढग से ग्रहण करे तो आश्चर्य नही। बिहारी सतसई की इतनी अधिक टीकाएँ होने का एक यह भी कारण है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

> दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति ॥

इस दोहे मे प्रसग की कमी है। सब से आसान बात तो यह है कि इसे कवि का ही कथन मान लिया जाय। उस दशा मे यह लौकिक अनुभव की एक चमत्कारोक्ति भर ही रह जाती है। परन्तु यदि इसी दोहे को दूती अथवा सखी का नायक या नायिका के प्रति वचन समझा जाय, जैसा कि बिहारी के अधिकाश दोहों के बारे मे लोग समझते हैं, तो इसमे एक पूरा प्रसंग अन्तर्हित मालूम होगा। नायक और नायिका की चार आँखे होने के बाद नायिका—(मान लीजिए कि दूती नायिका की ही है और वह नायक से कह रही है)—नायक को प्रेम करने लगी है। उसके प्रेम की बात उसके संबंधियों को भी मालूम हो गई है और वे उसे सता

रहे हैं। उधर कोई अन्य व्यक्ति भी—(पडोसी, जो शायद नायिका पर दृष्टि रखता था, अथवा नायक की पत्नी, जिसने नायिका के पास कोई गुप्त भर्त्सनापूर्ण संवाद भिजवाया है)—नायिका को दिक करता है। इतने बडे प्रसंग का संकेत हमे दूती के अप्रस्तुत निर्वाचन द्वारा, कहने वाली की योग्यता के कारण, मिलता है। अन्त्य व्यग्य इसका उद्देश्य है जो नायक के भावी उद्योग अथवा आचरण के रूप मे होगा, परन्तु इससे पहले व्यंग्य की एक और परंपरा भी है जो नायिका की रति के किसी सचारी को प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त किसी को यदि दूती के वर्णन प्रकार मे, 'दई नई यह रीति' के कारण, काकु आदि का भी कुछ पता लगे तो हम आश्चर्य नही कर सकते। फिर वर्णन की असंगति मे यदि हम इसको दूती का काकु-वाक्य मानते हैं तो, व्यग्य की प्रारंभिक पदवी मे ही अहद्जहल्लक्षणा (?) हो जाती है, अन्यथा, कवि की उक्ति के रूप मे, इसमे, लंबी परंपरा के अभाव से जहल्लक्षणा ही रहनी उचित मालूम होती है। इन सब बातों के साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए, कि जिस प्रकार इस दोहे को कवि अथवा दूती का कथन माना जा सकता है उसी प्रकार, यह नायिका और नायक का भी कथन हो सकता है। वह भी दो प्रकार का -- स्वगत, अथवा किसी अन्तरंग मित्र से। इन चारों नये प्रकार के कथनो मे व्यंजना की पद्धति तथा व्यंग्य विषयों में भी अलग अलग अन्तर पड़ जायगा।

एक दूसरा उदाहरण 'लिखन बैठि जाकि सबिहि'—वाला वह

दोहा दिया जा सकता है जिसके विषय मे प० पद्मसिह शर्मा ने अपनी 'बिहारी की सतसई', प्रथम भाग मे दस टीकाकारों के दस मत दिए हैं और अंत मे कह दिया है—"इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकने के हो सकते हैं। वास्तविक कारण क्या था, सो तो बिहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे।"

जैसा पहले कह चुके हैं, इस प्रकार की दिक्कतें दोहा छद की अति सक्षिप्तता के ही कारण विशेष रूप से पैदा हुई हैं। इससे प्राय. कवि के ध्वन्यर्थ को पकडने मे बडी मुश्किल पडती है और अर्थ बहुत दुरूह हो जाता है, क्योंकि इसमे प्रसादगुण की कहीं कहीं हानि होती है। इसको कवि की गूढता के रूप मे गुण माना जाय अथवा दोप, यह कहना कठिन है। परन्तु इतनी बात अवश्य कहनी होगी कि ध्वन्यर्थ चाहे संलक्ष्यक्रम से प्राप्त हो या असंलक्ष्य-क्रम से अथवा लक्षणा के किसी प्रकार से, पर वह प्रसाद के साथ, पढते-पढते प्राप्त होना चाहिए। ज्यादा सोचने मे कोई विशेष आनद नहीं है, या यदि है तो गणित की किसी समस्या को हल करने के ढग का, काव्य के ढग का नही। बिहारी के व्यंग्य में भाव व्यंग्य अथवा वस्तु व्यंग्य के साथ साथ अनुभावों संचारियों आदि का भी गूढ व्यंग्य ही उनके अर्थ की गहनता का कारण है। जहाँ अनुभावों या सात्विकों के चित्रण द्वारा भाव व्यंग्य कराया गया है वहाँ यह दिक्कत नहीं होती, बल्कि दोहों को पढ कर वास्तविक आनद की अनुभूति होती है। परंतु जहाँ आलंबन, उद्दीपन आदि संक्षेप मे, प्रसंग भी व्यग्य हैं वहाँ सचमुच पद्य एक पहेली अथवा गणित की समस्या बन जाता है।

मुक्तक मे प्रसगगर्भत्व से वहाँ अधिक सौष्ठव आता है जहाँ प्रसंग वाचकव्यग्य हो, अथवा फिर जहाँ जीवन के किसी व्यापक क्षेत्र से चित्रव्यञ्जना कर उसके द्वारा उद्दिष्ट व्यग्य कराया गया हो। चित्र-व्यंजना व्यापक नायक तथा आलबन के उचित संकेत अथवा उल्लेख से हो सकती है। लोकप्रसिद्ध नायकों तथा उनके लोकप्रसिद्ध चरित्रों को लेने से यह काम कुछ सुकर हो सकता है, जैसे राम और कृष्ण। सूर और मीरा के स्फुट पद इसीलिए अधिक सरल, और सरस भी, हुए हैं।

इस संबध म ध्यान देने की एक बात और भी है। रसात्मकता को यदि हम भावुकता का ही दूसरा रूप मानते है तो हम देखते हैं कि बिहारी क दोहे, ध्वनिपद्धति के अनुसार रसागो की व्यंजना की ओर प्रवृत्ति रखते हुए भी, सूर और मीरा के पदों की भावुकता उत्पन्न करने मे समर्थ नही हैं। दूसरे शब्दों मे, हम इसे यो कहे कि उनमे सूर और मीरा की सी रसात्मकता नही है। अधिक बारीकी से देखने पर हमे इसका कारण यह मिलेगा कि बिहारी के दोहों का चरम व्यंग्य रस, या उसका आधारभूत स्थायी भाव, प्राय: नही होता। स्थायी भाव मे फलागम की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। बिहारी के दोहे अपनी चरम व्यंजना का लक्ष्य अधिकतर किसी संचारी को ही रखते हैं, जिसमे स्थायी भाव स्थायित्व की पूर्ण पदवी को प्राप्त न होकर अनुमान की चीज़ रहता है। सूर और मीरा मे हमे सूर और मीरा के व्यक्तित्व मे ही स्थायी-भाव के दर्शन हो जाते हैं। परंतु बिहारी का अपना कोई

स्थायी भाव नहीं है। उनकी केवल शृंगार प्रवृत्ति ही है, जिसके कारण उनके दोहों मे भावुकता का उतना आनन्द नही है जितना वस्तुत. अर्थ-चमत्कार का। वे पढ़नेवाले को भावविभोर नही कर पाते। पर, दोहे की लघुता को दृष्टिगत रखते हुए, चमत्कार का आश्रय लेना अनिवार्य-सा है। इससे बिहारी की श्रेष्ठता घटती नहीं, बढ़ती ही है।

अब हम यहाँ बिहारी के व्यंग्य के कुछ श्रेष्ठ उदाहरण देते हैं—

(क) नई लगनि कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरे, फिरकी लौं दिन जाइ॥

(ख) देखौ जागति वैसियै, साँकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि, को जानै किहि बाट॥

(ग) कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि॥

(घ) सखी सिखावति मानविधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

(ङ) नीचीयै नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचे नीचै दियौ, मन कुलंग झकझोरि॥

(च) नहिं अन्हाय नहि जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर।
परसि फुरहरी लौं फिरति, बिहँसति धँसति न नीर॥

(छ) सटपटात सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट्ट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि॥

(ज) नैकु हँसौही बानि तज, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में, परति चौंध सी दीठि॥

(झ) मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय ।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यो, रही गरे लपटाय ॥

(ञ) पीतम दृग मिहिचत तिया, पानि परस सुख पाय ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेक न होति जनाय ॥

(ट) त्रिवली नाभि दिखाय कै, सिर ढकि सकुच समाहि ।
गली अली की ओट ह्वै, चली भली विधि चाहि ॥

(ठ) कहा लेहुगे खेल में, तजौ अटपटी बात ।
नेक हँसौही हैं भई, भौंहै सौहैं खात ॥

(ड) कपट सतर भौंहैं करी, मुख अनखौहे बैन ।
सहज हँसोहैं जानिकै, सौंहैं करति न नैन ॥

(ढ) हठ न हठीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाय ।
आन गाँठि ज्यों घुटत त्यों, मान गाँठि छुटि जाय ॥

(ण) बिछुरैं जिये सकोच इहिं, बोलत बनत न नैन ।
दोऊ दौरि लगे हियै, किये लजौंहैं नैन ॥

(त) इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरज्यौ ही नाहि ।
देखे बनै न देखते, अनदेखे अकुलाहिं ॥

(थ) चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय ।
ग्रीषम बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय ॥

(द) हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ॥

(ध) रह्यौ ऐंचि अंत न लह्यौ, अवधि दुसासन बीर ।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं, पाँचाली को चीर ॥

भाव की अथवा अवस्था आदि की व्यजना करने के लिए किसी न किसी रूप मे थोड़े बहुत दृश्य आधार की जरूरत होती है। उस आधार का कुशल प्रयोग व्यंग्य को मनोहर बनाने में सहायक होता है। विभाव या अनुभाव के रूप मे बिहारी ने भावव्यंजना के लिए जो भित्ति बनाई है उसमे उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। अनुभावों तथा सात्विकों के चित्रण में तो कहीं कहीं सिनेमा का सा दृश्य उपस्थित कर दिया है। 'भौंहनि त्रासति' अथवा 'नहिं अन्हाय ' आदि मे हम इस दृश्य को देख सकते हैं। कहीं-कही बिहारी ने रूपशोभा का, अथवा रूपशोभा के साथ-साथ प्रकृति का भी मिला कर, दृश्य वर्णन किया है जो भावोत्पत्ति का हेतु बनता है। कहीं शोभा अथवा दृश्य के देखने भर में ही आनन्द मिलता है, इसलिए उन्होंने भी केवल देखने भर के आनन्द के लिए वस्तुवर्णन किया है। इसके संबंध में नीचे जो कुछ उदाहरण दिए जाते हैं वे बिहारी की दृश्यचित्रण कुशलता का पूरा प्रमाण हैं—

(क) कच समेटि कर भुज उलटि, खए सीस पट टारि।
काकौ मन बाँधे न यह, जूरौ बाँधनिहारि॥

(ख) पहुला हारु हिये लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरी खरी, खरे उरोजनि बाल॥

(ग) मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय।
ज्यौं ज्यौं मद लाली चढ़ै, त्यौं त्यौं उघरत जाय॥

(घ) सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोबन जोति।
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह दुति होति॥

(ड) चमचमात चचल नयन, बिच घूंघट पट झीन।
मानो सुरसरिता बिमल, जल उछलत जुग मीन॥
(च) हेरि हिंडोरे गगन तें, परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि॥
(छ) पावस घन ऑंधियार महॅं, रह्यो भेद नहि आन।
राति घौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥
(ज) चुवत स्वेद मकरद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दक्खिन ते चल्यो, थक्यो बटोही बाय॥
(झ) बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह॥
(ञ) छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गध।
ठौर ठौर झौंरत झॅपत, भौर भौर मधु अंध॥

ऊपर एक बात कही गई थी, वह यह कि स्फुट काव्य, विशेषतः दोहे मे, चमत्कार का आश्रय लेना आवश्यक सा होता है। यह चमत्कार व्यंग्य का साधक होकर उपकारी बनता है, परन्तु वही यदि साधक न बन कर स्वय साध्य ही रहे तो, वह चुटकुलेबाज़ी का मजा तो दे सकता है, परन्तु, अच्छे काव्य की श्रेणी मे नहीं आ सकता। मम्मट ने तो सर्वत्र व्यंग्य की ही प्रधानता मानी है और काव्यों मे उन्होने अव्यंग्य काव्य को 'अवर' बतलाया है—"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।" बिहारी ने चमत्कार का सहारा तो ढूँढा ही है, यह अब तक के बहुत से उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा। परन्तु किन्हीं किन्हीं दोहों मे उन्होंने केवल

चमत्कार के ही लिए कोई उक्ति कही है। इनमे बहुत सी उक्तियाँ बडी अच्छी हैं। पर कहीं कहीं चमत्कार का प्रेम बढकर असंभव अत्युक्ति तक पहुँच गया है जिसमें वह ग्लानिकर अथवा उपहास्य बन गया है। अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के, चमत्कारप्रियता के उदाहरण नीचे के उद्धरणों मे देखे जा सकते हैं—

(क) छुटैं छुटावैं जगत तैं, सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे, नील छबीले बार॥

(ख) कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढिगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत॥

(ग) कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥

(घ) अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन से सब गात।
दोहरे, तिहरे चोहरे, भूषन जाने जात॥

(ट) पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ई रहै, आनन ओप उजास॥

(च) करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँडतु नीच।
दीन्हे हू चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु॥

(छ) इत आवत चलि जात उत चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै, लगी उसासनि साथ॥

(ज) बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किए नीठि ठहराइ।
सूछम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहिं जाइ॥

चमत्कार का वाग्वैदग्ध्य से भी बहुत सबंध है। ऊपर के बहुत

वाग्विदग्धता आदि कोई अलग अलग स्वाधीन तत्व नहीं हैं। शास्त्रियों ने अवश्य छान-बीन कर, बाल की खाल निकाली है, परन्तु देखने मे यह आता है कि ये सब प्राय' एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। इनका संबध प्रसग की विशेषता तथा प्रयोक्ता की मनः प्रगति से है। किसी प्रसंग को देख कर जब एक प्रधान भाव हृदय मे उठता है तो उससे संबध रखने वाली तमाम मानसिक क्रियाएँ एक साथ ही हो जाती हैं और प्रयोक्ता जब वर्णन करने लगता है तो उन क्रियाओं का विश्लेषण करने की उसे फुरसत नही होती। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने वर्णनकर्म से अवगत भी रहते हैं वे अपने वर्णन मे प्रभाव का उद्देश्य भी रखते हैं। फलत प्रभाव उत्पन्न करने के जो जो भी उपाय उनकी तात्कालिक विचार-परंपरा के सामने आते हैं उनका वे उपयोग कर लेते हैं। बिहारी के जिन उदाहरणों मे अलग अलग तत्त्व बतलाने की चेष्टा की गई है उनमें अधिकाश ऐसे मिलेंगे जिनमे से किसी एक मे ही तमाम तत्त्व एक साथ उदाहृत हो जाते हैं, और प्राय. ये ऐसे मिले रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना कठिन मालूम होता है।

यही बात अलंकारों की भी है। कोई एक स्वतन्त्र अलंकार अपने शुद्ध रूप मे अकसर कम ही मिलता है। बिहारी मे ही नहीं, अन्यान्य कवियों मे भी। बात यह होती है कि किसी प्रसग को देख कर जब कोई भाव अपने प्रभाव के साथ हृदय में उत्पन्न होता है तो सासर्गिक न्याय से किसी प्रधान अलकार-भाव का (जो प्रभाव का ही रूपान्तर होता है) अज्ञातरूप से जन्म हो जाता

है। भाव का अनुरोधी कवि उस अलकार को नही देखता, इस-लिए उस को निभाने की भी कोशिश नहीं करता। उसकी दृष्टि केवल प्रभाव की ओर लगी रहती है, अत. जो मुख्य अलंकार-भावना अज्ञात रूप से उसके मन मे उदित हो गई थी उसी की परपरा मे दूसरे मिलते-जुलते अलकारों की छाया भी सहचारी या संचारी ढग से छिपे-छिपे कवि की उक्ति मे आ जाती है। यह यहाँ तक होता है कि कभी कभी कवियों की उक्ति मे बहुत सरल अलकार, जैसे उपमा, रूपक, तक अपने शुद्ध रूप में नही रहने पाते। महाकवियो की वाणी मे अलकार-संकरता ही अधिक देखने को मिलती है। इसके प्रमाण मे किसी कवि की किसी उक्ति को लेकर देखा जा सकता है। एक विद्वान् उसमे यदि एक अलकार बताएगा तो दूसरा दूसरा, और यह भी असंभव नहीं कि वे ही विद्वान् कुछ समय के बाद उसी उक्ति मे अपने पहले बताए हुए अलंकारो से भिन्न दूसरे अलंकार देखने लगे। परन्तु यदि स्वयं कवि से पूछा जाय तो वह शायद उसमे कोई भी अलंकार न बता सके। अत बिहारी जैसे महाकवि मे भी, जहाँ भाव और उसके प्रभाव का ही उद्देश्य है, हमे लगभग सर्वत्र ही भावसंकरता मिलेगी। वह भी बडे उलझे हुए ढंग की। पं० कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' नामक रचना मे बिहारी का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

यह मैं तोही मैं लखी, भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भो, तन कदंब की माल॥

और इसमे सोलह अलंकार खोज निकाले हैं। फिर भी उनकी

सूची पूरी नहीं हुई है, क्योंकि अन्त मे उन्होंने लिखा है—"गौण रूप से अभी और भी कई अलकार इसमे निकल सकते हैं।" हमारा अभिप्राय मिश्र जी से सहमति या असहमति प्रकट करने का नहीं है; हम यही दिखाना चाहते थे कि बिहारी की अलकार-योजना का रूप क्या है। हम यह भी नहीं कहना चाहते कि बिहारी की अलंकार-संकरता से उनके काव्य का रूप बिगडा है। इसके विपरीत हमारी सम्मति मे तो इससे उसकी मनोहरता की वृद्धि तथा कवि के उद्देश्य की सिद्धि ही हुई है।

पर, जैसा कहा गया है, संकरों मे भी किसी मुख्य अलंकार का अस्तित्व तो प्राय रहता ही है। अलकार-प्रेमी अन्वेषकों को भी उस मुख्य अलंकार से ही सन्तोष कर लेना काफी है। यहाँ भिन्न भिन्न अलकारों के उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नही मालूम होती। अब तक जितने उद्धरण दिए गए हैं वे ही अलकारो के भी उदाहरणों का काम दे सकते हैं। मुख्यभूत अलकार की प्रतीति उनमें हो जाना कठिन नहीं है। हाँ, प्रवृत्ति की दृष्टि से यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि जहाँ अनुभावो और सात्विक भावो द्वारा भावव्यंग्य का उद्देश्य है वहाँ हमारे कवि की रुचि स्वभावोक्ति की ओर विशेष देखी जाती है तथा जहाँ शोभा-वर्णन और चमत्कार आदि का उद्देश्य है वहाँ अतिशयोक्ति की ओर। हम केवल प्रवृत्तियों की ही बात कह रहे हैं, 'स्वभावोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' अलंकारों की नही। स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति तो मनुष्य हृदय की दो बहुत स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। अलकार रूप मे 'अतिशयोक्ति'

स्वयं सादृश्यमूलक अलंकार है, परन्तु प्रवृत्तिरूप में यह विरोध-मूलक अलकारों तक की तह मे पाई जा सकती है। स्वभावोक्ति अतिशयोक्ति की विरोधिनी है और प्रवृत्ति रूप मे वस्तुओं तथा दशाओं के सहज दर्शन मे पाई जाती है। इन प्रधान प्रवृत्तियों के अतिरिक्त बिहारीलाल मे एक गौण प्रवृत्ति ध्वनि-साम्य की भी अधिक दृष्टिगोचर होती है, जिसका उद्देश्य ज्यादातर चमत्कार-वर्धन है। केवल चमत्कार के लिए प्रयुक्त किए गए ध्वनि-साम्य का एक उदाहरण देते हैं। इसमे यमक प्रधान है—

केसरि कै सरि क्यों सकै, चपक कितक अनूप।
गातरूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप॥

बिहारी ने अन्योक्तियाँ भी बडी अच्छी कही है। दो एक उदाहरण उनके भी देखने चाहिएँ—

(क) 'नहिं पराग नहि मधुर, मधु' इत्यादि।—पीछे दिया जा चुका है।
(ख) 'करि फुलेल को आचमन' इत्यादि। ,, ,,
(ग) को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यो चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात॥
(घ) स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारु।
बाज, पराये पानि पर, तू पंछी हि न मारु॥
(ङ) पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल।
भोडर हू की भासिहै, बेंदी भामिनि भाल॥
(च) जद्यपि सुंदर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह॥

(छ) इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल ।
ह्वैहैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ।
(ज) चले जाहु ह्याँ को करै, हाथिन को ब्यौपार ।
नहिं जानत यहि पुर बसै, धोबी औंड़ कुम्हार ॥

अन्योक्तियों के विषय मुख्यत सासारिक अनुभवों के तथ्य हैं । सासारिक अनुभव की बहुत सी बाते बिहारीलाल ने कहीं कहीं अन्योक्ति के रूप में न कह कर सीधी-सीधी भी कही हैं । इसके अतिरिक्त कुछ दोहे उनके ईश्वर तथा भक्ति के ऊपर भी हैं । ईश्वर, भक्ति तथा लोकानुभव से संबध रखने वाली बिहारी की कुछ सूक्तियाँ भी यहाँ दी जाती हैं—

(क) मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तनु की झाँई परे, स्याम हरित दुति होइ ॥
(ख) जगत जनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ।
ज्यौं आँखिन सब देखियै, आँखि न देखी जाहि ॥
(ग) अपनै अपनै मत लगे, बादि मचावत सोरु ।
ज्यौं त्यौं सब कौं सेइबो, एकै नन्दकिसोरु ॥
(घ) कब को टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जगनाइक जग-बाइ ॥
(ङ) कौन भाँति रहिहै बिरुद, अब देखबी मुरारि ।
बीधे मो सों आइकै, गीधे गीधहि तारि ॥
(च) बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥

(छ) नर की अरु नल नीर की, एकै गति करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय॥
(ज) घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन याचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बडो लखाय॥
(झ) बुरौ बुराई जो तजै, तौ मन खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयक लखि, गनै लोग उतपात॥
(ञ) कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय॥
(ट) कोटि यतन कोऊ करै, परे न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच॥
(ठ) दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न करै दुख द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चंद।

बिहारी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमे बुंदेलखंडी का पुट है। शब्द संस्कृत तथा फ़ारसी के भी आए हैं। कहीं कहीं शब्द तोड़े-मरोड़े भी गए हैं। परन्तु वैसे इनकी भाषा बहुत गठीली सुव्यवस्थित और प्रभावमयी है, मुहावरेदार है। कभी कभी एक ही दोहे मे एक साथ कई कई मुहावरे आगए हैं, जैसे—

मूड़ चढाए हू रहै, परयो पीठि कच-भारु।
रहै गरे परि राखिबो, तऊ हिये पर हारु॥

जहाँ व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं है वहाँ प्रसादगुण अच्छा है। परन्तु प्रसाद की अपेक्षा बिहारी मे माधुर्य की मात्रा विशिष्ट है। ध्वनि-साम्य के लिए वर्णमैत्री तो, किसी न किसी परिमाण मे,

लगभग सर्वत्र ही है, जिससे तरह तरह के अनुप्रासों की उत्पत्ति होती है, परन्तु 'सतसई' मे पदमैत्री के उदाहरण भी कम नही हैं। प्राकृतिक वर्णनों मे विषय की अनुकूलता के लिए भाषा भी प्राय अपना रूप तदनुसार ही बदल लेती है, जैसे—

रनित भृग घंटावली, झरित दान-मद-नीर।
मद मन्द आवत चल्यौ, कुजर कुज समीर॥

इस दोहे के पहले और दूसरे चरणों मे घटे के बजने तथा नीर के झरने की ध्वनियो की अनुकूलता प्रयुक्त शब्दावली मे गूँज रही है। इस तरह के प्रयोग विषय का प्रत्यक्ष कराने, उसके अनुरूप भाव पैदा करने, मे बहुत जल्दी सहायक होते हैं।

बिहारी की कविता मे कुछ साधारण से दोष भी हैं। असभव अत्युक्तियों का जिक्र किया जा चुका है। इसी तरह प्रसगगर्भत्व से कहीं कहीं उत्पन्न होने वाली दुरूहता का भी। दो चार स्थलों मे इन्होंने ऐसे उपमानो का भी प्रयोग किया है जो भावावबोध कराने मे असमर्थ हैं और इसलिए अप्रयोज्य हैं, यथा—

भाल लाल बेंदी छये, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत॥

एक दो स्थानों पर विपरीत भावों के एकत्र कर देने से वर्णन उद्वेग-जनक भी होगए हैं, जैसे—

दृग थरकौहैं अध-खुले, देह थकौहैं डार।
सुरति-सुखित सी देखिये, दुखित गरभ के भार॥

यहाँ 'सुखित' और 'दुखित' के विरोधाभास को दिखाने के

लिए कवि ने सुरत और गर्भावस्था के दो ऐसे परस्पर-विरोधी प्रसंग उपस्थित किए हैं जो, गर्भिणी की शोभा (?) का आस्वादन कराना (?) तो दूर रहा, उसके चित्र से उलटे विरत करते हैं। गर्भिणी का चित्र होने से इस दोहे मे ग्राम्यता भी है।

परन्तु बिहारी की संपूर्ण रचना मे असंभव अत्युक्तियो या उपमानें या ग्राम्य वर्णनों के उदाहरण इने-गिने ही हैं और वे गुणो की अधिकता मे ऐसे ढक जाते हैं कि उनसे कवि की श्रेष्ठता को कोई हानि नहीं पहुँचती। बिहारी सचमुच अपने ढंग के अद्वितीय कवि हैं।

भूषण

रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र भूषण कवि का जन्म कानपुर के समीप तिकवॉपुर गॉव मे संवत् १६९२ के आसपास हुआ था। इन्होंने लगभग १०२ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की। इनकी मृत्यु संवत् १७९५ के इधर-उधर हुई। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके वास्तविक नाम का पता नहीं। 'भूषण' इनकी उपाधि थी जो इन्हें चित्रकुट के सोलंकी राजा 'हृदयराम-सुत रुद्र' ने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर दी थी।—

कुल सुलंकि चितकूटपति, साहस-सील-समुद्र।

'कवि भूषण' पदवी दई, हृदयरामसुत रुद्र॥—(शिवराज-भूषण)

चित्रकूट के राजा के यहाँ से भूषण, कुछ समय बाद, शिवाजी के यहाँ चले गए थे। इनको सब से अधिक धन और मान शिवाजी के यहाँ से ही प्राप्त हुआ। परन्तु धन की अपेक्षा भूषण को मान अधिक प्यारा था, जिसके कारण अपनी भावज के किसी ताने पर तरुणावस्था मे ही ये घर छोड कर चले आए थे और तब तक वापिस न गए जब तक कि इन्होंने उस ताने का जवाब न दे दिया छत्रसाल से उन्हे उतना धन नहीं मिला जितना शिवाजी से, परन्तु छत्रसाल उनका मान खूब करते थे। कहा जाता है कि छत्रसाल ने भूषण की पालकी का डंडा तक अपने कंधे पर रख लिया था,

जिस पर भूषण पालकी से एक दम कूद पड़े। इसी कारण (तथा छत्रसाल के स्वतंत्रताभिमानी, जातिप्रेमी होने के कारण) मान-धनी भूषण उनके यहाँ भी आते-जाते थे। शिवाजी के अतिरिक्त भूषण ने छत्रसाल को भी अपनी कविता का नायक बनाया है, यद्यपि शिवाजी के यहाँ रहने के कारण उन्होंने शिवाजी के विषय मे ही सब से अधिक कहा है। कुमायूँ के राजा ने एक छन्द कहने पर भूषण को एक लाख रुपया देना चाहा, परन्तु आदर-विशेष न दिखाया, जिस पर उन्होंने रुपया लेने से इनकार कर दिया।

आत्मसम्मान का इतना मूल्य रखनेवाले इन भूषण के लिए स्वतन्त्रताप्रेमी तथा जाति-प्रेमी होना भी स्वाभाविक ही था। इसी लिए हम देखते हैं कि कानपुर के रहनेवाले होकर भी उन्होंने स्वराज्य-स्थापक छत्रपति शिवाजी के यहाँ जाना पसन्द किया और सुदूर दक्षिण की इतनी लंबी यात्रा की। अन्यथा काव्योप-जीविकामात्र के लिए क्या वे भी दूसरे कवियों की भाँति किसी पास-पड़ोस के राजा के यहाँ केलिक्रीड़ा के गीत नहीं गा सकते थे। पर ऐसे गीत गाने या राजाओं के झूठे प्रशंसा वाक्य रचने को भूषण पवित्र वाणी का दुरुपयोग समझते थे। उन्होंने कहा है—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकहु ब्यास के अंग सोहानी॥
भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

(शिवराज भूषण)

भूषण ने शिवाजी के रूप-सौन्दर्य अथवा उनके रनिवास-जीवन का कही वर्णन नहीं किया, बल्कि बराबर उनके पराक्रम और प्रताप की ही ओर दृष्टि रक्खी है। शिवाजी के यश, प्रताप और दान आदि के वर्णनों मे जो अतिशयोक्तियाँ दिखाई देती हैं सो कुछ तो काव्यशैली क कारण, और कुछ वीर-काव्य के उद्देश्य के कारण। वीरकाव्य मे प्रोत्साहन और भावोत्तेजन के उद्देश्य का रहना आवश्यक है। यदि कवि का उद्देश्य अपने वीर नायक की प्रशंसा करना ही होता तो वह उसके ही एकान्त व्यक्तित्व को दृष्टिगत रखता। परन्तु, इसके विपरीत, भूषण के शिवाजी इसलिए स्तुत्य नही हैं कि वे शिवाजी हैं, बल्कि इसलिए कि वे जातिरक्षक हैं और धर्मरक्षक हैं। जिस प्रकार तुलसीदास के राम अपने लोकसग्रह के कारण बडे हैं उसी प्रकार भूषण के शिवाजी भी हिन्दू जाति के उद्धार तथा धर्मसरक्षण के कारण ही हमारे पूज्य है। जिस प्रकार तुलसीदास का रावण इसलिए प्रतिनायक नही है कि वह राम का शत्रु है बल्कि इसलिए कि वह लोक का शत्रु है, उसी प्रकार भूषण का प्रतिनायक भी इसीलिए प्रतिनायक है कि वह हिन्दू जाति का वैरी है। शिवाजी भूषण के आदर्श हैं इसलिए कि उन्होने—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे मैं जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मैं॥
—(शिवा-बावनी)

भूषण की यह जो जातीय भावना है वही उसके काव्य की प्रेरक शक्ति है, उसके काव्य की आत्मा है। मुसलमानों के अत्याचार और हिन्दुओं की दलित दशा को देख कवि का हृदय अवश्य उबलता होगा। उसने निदान करके देखा कि इस दशा का कारण हिन्दुओं की आपसी फूट है। यह निदान इतना कटु था कि दशा सुधरने के बाद, उत्सव के समय भी कवि उसे नहीं भूलता। यद्यपि कवि को हर्ष है कि "टूटी पातसाही सिवराज संग लरते" तथापि पातसाही टूटने का जो पहला दृष्टान्त कवि के सामने आता है यह यही है कि "आपस की फूट ही से सारे हिन्दुवान टूटे।" भूषण ने कतिपय फुटकर पद्यों मे कुछ अन्य राजाओं का भी संक्षेप मे वर्णन किया है, पर स्तव उन्ही का किया है जो हिन्दुओं की ओर से लड़े हैं और जो देशद्रोही थे उनकी निंदा की है। मध्यदेश का एक छोटा सा राजा भगवन्तराय तक उनके लिए 'कुल खंभ हिन्दुआने को' था। क्योकि उसने मुसलमानों से लडते-लडते अपने प्राण दिए थे।—"फूटे भाल भिच्छुक के जूझे भगवन्तराय, अरराय टूट्यो कुल खंभ हिन्दुआने को।"

भूषण की कविता वीररस की कविता है। इसको पढते पढते एक बार तो कायर तक का हृदय उत्साह से फूल उठेगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। यदि दन्तकथा सत्य है तो एक बार औरंगज़ेब तक का हाथ, भूषण के ऐलान के मुताबिक, उसकी कविता सुनकर बरबस मूँछों पर चला गया था, यद्यपि औरंगज़ेब अपने हाथ को रोक रखने के लिए दृढ़संकल्प होकर बैठा था।

भूषण की कविता में ऐसा प्रभाव होना स्वाभाविक है। इतने ज्वलंत नायक और प्रतिनायक, आलंबन रूप दीन देश और प्रतिनायक के कृत्यों के रूप मे उद्दीपन को पाकर भूषण को इनके साथ केवल अपने अनन्य उत्साह का योग करने भर की देर थी। फिर तो जो कुछ भी उनके मुँह से निकला वह वर्णन नहीं, वर्णन-विषय का मूर्त और सजीव रूप बनकर सामने आया। जिस समय शिवाजी युद्ध के लिए प्रस्थान करते है उस समय का दृश्य है—

साजि चतुरंग वीर रंग मे तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के
नदी-नद मद गैबरन के रलत है॥
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल
गजन की ठैलपेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरिधारा मैं लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥
(शिवा बावनी)

इसी प्रकार खवासखॉ के साथ शिवाजी के युद्ध का इस भॉति चित्र उपस्थित किया गया है—

उमड़ि कुडाल मैं खवासखान आए भनि,
भूषन त्यों धाये सिवराज पूरे मन के।
सुनि मरदाने बाजे हय हिहनाने घोर,
मूछे तरराने मुख बीर धीर जनके॥

एकै कहैं मार मार सम्हरि समर एकै
म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसम्हार तन के।
कुंडन के ऊपर कड़ाके उठे ठौर ठौर,
जीरन के ऊपर खड़ाके खड़गन के॥
—(शिवराज भूषण)

एक दृश्य छत्रसाल के युद्ध का भी देखना चाहिए—

अत्र गहि छत्रसाल खिझ्यो खेत बेतवै के,
उतते पठानन हू कीन्ही झुकि झपटें।
हिम्मति बडी कै कबडी के खिलवारन लौं,
देत से हजारन हजार बार चपटें॥
भूषन भनति काली हुलसी असीसन कौं,
सीसन कौं ईस की जमाति जोर जपटैं।
समद लौं समद की सेना त्यों बुँदेलन की,
सेलैं समसेरैं भईं बाड़व की लपटें॥
—(छत्रसाल दशक)

युद्ध और शौर्य के वर्णन के साथ ही साथ भूषण ने अपने नायक के प्रभाव का और भी विशद वर्णन किया है। जिसकी शूरवीरता रण में सदा ही शत्रुओं के बुरी तरह दाँत खट्टे कर देती थी उसका आतंक शत्रुओं के हृदय पर कैसा रहा होगा! शिवाजी का नाम सुनकर शत्रुओं का हृदय दहलता था, नगाड़े की ध्वनि से तो उनकी छाती ही फट जाती थी, और जब औरंगज़ेब किसी सेनापति को दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा देता, अथवा किसी

को वहाँ का सूबेदार बनाता तो उस व्यक्ति की आधी जान पहले ही निकल जाती थी। भूषण ने इस प्रभाव और आतंक के वर्णन दूसरे वर्णनों की अपेक्षा अधिक किए हैं और उनमे वीररस के सहयोगी दूसरे दूसरे रसों का भी समावेश हुआ है। भय का चित्र नीचे के उदाहरणों मे कितना स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति
फिरति फिरंगिनी की नारी फरकति है॥
थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहनि की छाती धरकति है॥—(शिवाबावनी)

नीचे के छंद मे स्त्रियों की भी घबराहट देखने लायक है—

चमकती चपला न फेरत फिरंगै भट
इन्द्र को न चाप रूप बैरख-समाज को।
धाये धुरवा न, छाये धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को॥
भौंसला के डरन डरानी रिपु-रानी कहैं
'पिय भजो', देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे
भूषन भनत आयौ सैन सिवराज को॥—(शिवराज भूषण)

शिवाजी के आतक के वर्णनों को देखने से पता चलता है कि शत्रुओं की अपेक्षा उनकी स्त्रियों के भय को दिखाने मे कवि ने मानस विज्ञान का भी उपयोग अधिक अच्छा किया है। कारण स्पष्ट है। शत्रु भयभीत होकर भी किसी न किसी उद्दिष्ट क्रिया मे ही अपने भय का अवसान करेगा। परन्तु उस रात-दिन के लडाई-झगडे मे परदानशीन बेगमों को आठों पहर चिन्ता करती रहने के अतिरिक्त और काम ही क्या था। अभी जो छंद उद्धृत किया गया है वह यद्यपि अलंकार की दृष्टि से अपन्हुति का उदाहरण है, तथापि काव्यात्मा की दृष्टि से उसमे अलंकार गौण है। शत्रु-पत्नियों की मानसिक अवस्था का चित्रण ही उसका प्रधान उद्देश्य है। अलंकार इस उद्देश्य का उपजीवीमात्र है। जहाँ स्त्रियों की मानसिक अवस्था की परिणति अनुद्दिष्ट क्रिया मे होती है उसका चित्रण नीचे के छंद मे बडा अच्छा किया गया है—

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्ही सिवराज बीर अकह कहानियाँ।
भूषन भनत तिहुँ लोक मैं तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइत सकल बिललानियाँ॥
आगरे अगारन की नाँघतीं पगारन,
सँभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ॥
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहि,
बीबी गहे सूथनी सुनीबी गहे रानियाँ॥

भयानक, बीभत्स और रौद्र वीररस के स्वभाव-सहायक रस

हैं। भूषण ने वीभत्स के अच्छे वर्णन किए हैं, पर रौद्र उतना अधिक नहीं है। आतंक के वर्णन मे शत्रुओं के भय की दयनीय दशा दिखाते हुए कही कहीं भूषण ने मजाक भी बडा अच्छा किया है, जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहै बैन, मियाँ कहियत काहि नै।
भूषन भनत बूझे आये दरबार तें
कँपत बार बार क्यों सँभार तन नाहिनै॥
सीनो धकधकत, पसीनो आए देह सब
हीनो भयो रुप न चितौत बायें दाहिनै।
सिवाजी की सक मानि गये हौ सुखाय, तुम्हें
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै॥

शत्रुओ की तुच्छता और क्षुद्रता की इस बलवती धारणा मे भूषण मज़ाक से आगे बढकर, व्यंग्यपात भी बडा चुटीला करते हैं। ओज की मात्रा बहुत अधिक बढ जाने पर कही कहीं व्यग्योक्ति कटूक्ति भी बन जाती है। दो-तीन उदाहरण इसके भी देखने योग्य हैं। यथा—

(क) किबले के ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै मारि डारयो।
मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई हैं॥
बन्धु तौ मुराद बकस बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।

भूपन सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हे तब पातसाही पाई है ॥

(ख) दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हद्द हिन्दुवाने की,
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक-सब,
मिटि-गई ठसक तमाम तुरकाने की,
'भूपन' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धक,
धाक सुनि सुनि सिवराज मरदाने की,
मोटी-भई चडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥

(ग) दारा की न दौर यह रारि नही खजुवे की,
बाँधिबो नहो है किधौ मीर सहवाल को
मठ विस्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा, न मंदिर गोपाल को ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें और बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को ।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥

प्रतिनायक-पक्ष के लिए यह हेय-भावना कुछ तो नायक के उत्कर्ष के कारण है और कुछ नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए। यथार्थ जीवन मे भी व्यक्ति जितना अधिक धैर्यशील, साहसी और पराक्रमी होता है वह उतनी ही कठिन परिस्थितियों से युद्ध करने

की सामर्थ्य रखता है, परन्तु, उसी भाँति जो व्यक्ति जितनी कठिन परिस्थितियों से युद्ध करके विजय प्राप्त करता है वह उतना ही धैर्यवान, व्यवसायशील और पराक्रमी समझा जाता है। दोनों परिस्थितियाँ एक दूसरी का प्रतिबिम्ब हैं, परन्तु फिर भी वे एक दूसरी से भिन्न है। शिवाजी या छत्रसाल के चरित्रों मे जो गुण थे उन्ही के कारण वे औरंगज़ेब जैसे शत्रु का माँझा ढीला कर सके, परन्तु दूसरी ओर, औरंगज़ेब जैसे शत्रु के मिलने पर ही उनके चरित्रगुण अपने पूर्ण रूप मे विकसित हो सके तथा हमको उन गुणों का परम उज्ज्वल रूप देखने को मिल सका। भूषण भी इस को समझते हैं। उनके नायक धीरोदात्त श्रेणी के नायक हैं। इन नायकों का साहस और पराक्रम अपने मार्ग की बाधाओ को देख कर घटता नही, और बढता है। जितनी ही गुरुतर वे बाधाएँ हैं उतना ही विशाल उन नायकों का पराक्रम है। इसलिए, यद्यपि भूषण को शत्रुओं की पतली हालत देखकर अवश्य हँसी आती होगी और उन्हे चिढाने मे मजा भी आता होगा तथापि अपने नायक के कार्य की गुरुता को देखते हुए वे यह भी अवश्य देखते हैं कि शत्रु कितना भारी है। वह यह नहीं कहते कि यदि नायक सिंह के समान है तो शत्रु बकरी है, प्रत्युत वह शत्रु को भी हाथी बनाते हैं और उसे 'अरीन्द्र' कहते हैं—"दाबि यों बैठो नरिन्द अरिदहिं मानो मयन्द गयन्द पछार्यो।" 'गयन्द' शब्द मे बल और विशालता दोनों का ही संकेत है। नायक के उत्कर्ष को दिखाने के लिए प्रतिनायक का उत्कर्ष दिखाना भी सफल कविकर्म का एक श्रेष्ठ साधन होता है।

भूषण ने शिवाजी के शौर्य, पराक्रम, आतंक के अतिरिक्त उन के यश तथा दान का भी वर्णन किया है। यश तो पराक्रम का स्वाभाविक उपलब्ध्य बन ही जाता है, परन्तु दान का पहला संबंध कवि की अपनी कृतज्ञता से है, उसके बाद नायक की दानवीरता से, तदुपरात यश के उपकारण के एक स्वरूप से। शिवाजी के दान के बारे मे भी भूषण ने कितने ही छंद कहे हैं, पर इस विषय का निचोड यह है—

औरन के जाँच कहा, नहि जाँच्यो सिवराज।
औरन के जाँचे कहा, जो जाँच्यो सिवराज॥

भूषण के कुछ फुटकर छद श्रृंगार-रस पर भी मिलते है। इनमे भी भूषण की रणध्वनि की झलक कहीं कहीं थोडी सी आ गई है, यथा—"नैन जुग नैनन सों प्रथमे लड़े हैं धाय, अधर कपोल तेऊ टरे नाहि टरे हैं" आदि। परन्तु उनके वीररस के कवि होने, अथवा उनके श्रृंगारी पद्यों मे वीराभास होने के कारण हमको यह न समझ लेना चाहिए कि भूषण के हृदय मे कोमलता का कोई अंश ही न था। विरहिणी नायिका के निम्नलिखित चन्द्रोपालभ मे विरहिणी के हृदय का कैसा स्वाभाविक रूप दरशाया गया है—

जिन किरनन मेरो अंग छुयो तिनहि सों,
पियअंग छुवै क्यों न मैन दुख-दाहे को।
भूषन भनत तू जो जगत को भूषन है,
हौं कहा सराहौं ऐसे जगत सराहे को॥
चद ऐसी चाँदनी तू प्यारे पै बरसि उतै,
रहि न सकै मिलाप होय चित चाहे को।

तू तो निसाकरै सब ही की निसा करे, मेरी,
जो न निसा करै तो तू निसाकरै काहे को ॥

एक दूसरे उदाहरण मे वसत के साज बाज को देखकर विरहिणी अपने पति के पास संदेश भिजवाती है—"इतनो सदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ, कहो जाय कंत सों बसत ऋतु आई है।" कहने को, नायिका ने इस सदेसे में कुछ भी नहीं कहलवाया है, परन्तु, वस्तुतः उसने इसमे अपना दिल निकाल कर रख दिया है। यह हृदय की वह अनिर्वचनीय अवस्था है जिसमे उसे अनिर्वचनीय बतलाना भी दुष्कर होता है। इतनी बारीक, परन्तु तीव्र, भावव्यञ्जना के उदाहरण साहित्य मे बहुत कम स्थानों पर देखने को मिलते हैं।

प्रत्येक कवि की भाँति भूषण ने भी प्रभावोत्पादकता के लिए चमत्कार का आश्रय ग्रहण किया है। उसे हम प्रासंगिकमात्र नहीं कह सकते, वह इरादा करके लाया हुआ है। भूषण के छंदों मे सानुप्रासता तो सर्वत्र ही है। स्थान स्थान पर यमक और लाटानुप्रास का भी मनोहर विधान है, यथा—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं, कंद मूल भोग करे,
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं ॥
भूषन सिथिल अग, भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।

भूपन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती है ॥

परन्तु भूषण का चमत्कार केवल नकली शोबदेबाजी या मुलम्मागीरी का नहीं है, वह अर्थ को भी प्रेरित करता है—भाव-सात्म्य का एक प्रधान अंग बन कर वह अपना उचित कार्य करता है। "मीरन के उर पीर बढ़ी यों जु भूल गई सुध पीरन हू की" मे 'ईर' और 'अन' की आवृत्ति केवल शब्द का खिलवाड ही नही है, वह अमीरों के हृदय की पीडा का सच्चा स्वरूप भी है।

भूषण की कविता मे अर्थालंकारो का प्रयोग भी कहीं अस्वाभाविक नही हुआ है। अब तक उदाहृत पद्यों मे हर जगह ही कोई न कोई अर्थालकार है। परन्तु कही भी वह हमें खटकता नहीं बल्कि, इसके विपरीत, कथन के भावावेश मे हमको अलंकार के अस्तित्व का ज्ञान तक नहीं होता। "तारा सो तरनि धूरिधारा में लगत जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत है" मे क्या ही सुहावनी और मौलिक कल्पना की गई है कि समुद्र के हिलने का दृश्य तो आँखों के सामने आजाता है परन्तु तुलना के प्रयत्न का हमको सन्देह भी नहीं होता। "चमकती चपला न" आदि की अपन्हुति में भी हम मुसलमानियों की भयभीत मानसिक दशा को ही अधिक देखते हैं, अलकार को उतना नहीं। व्याजस्तुति का एक बढ़िया उदाहरण नीचे दिए छंद मे देखा जा सकता है—

अकबर पायो भगवन्त के तनै सों मान,
बहुरि जगतसिंह महा मरदाने सों।

भूषन त्यों पायो जहाँगीर महासिंहजू सों
साहजहाँ पायो जयसिंह जग जाने सो ॥
अब अवरगजेब पायो रामसिंहजू सों
औरौ दिन दिन पैहै कूरम के माने सो।
केते रावराजा मान पावै पातसाहन सों
पावै पातसाह मान मान के घराने सों ॥

भूषण की भाषा को नि सकोच मिश्रित भाषा कह सकते हैं। ब्रज और बुन्देलखड की भाषाओं के अतिरिक्त उसमे अरबी, फारसी के शब्द भी बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जहाँ ओजविशेष की आवश्यकता हुई है वहाँ अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भूषण ने जिस किसी भी भाषा के शब्दों को अपनी रचना मे काम मे लिया है उन्हे खूब अच्छी तरह बनाया बिगाड़ा है, यहाँ तक कि वे कभी कभी पहचान मे भी नही आते। शब्दो को बिगाडने की यह स्वतन्त्रता, हम देखते हैं, लगभग सभी कवियों मे थोडी बहुत रहती है। भूषण मे यह कुछ अधिक है। परन्तु दूसरे बहुत से कवि जहाँ प्राय शब्द को छंद की आवश्यकता के लिए बिगाडते हैं वहाँ भूषण ने ऐसा, छद की आवश्यकता के अतिरिक्त, कुछ अपनी ओजस्विनी वाणी की हुँकार के लिए भी किया है। शब्दों की यह तोड़-मरोड तथा भिन्न भिन्न भाषाओं की खिचडी भूषण के हृद्गत ओज के अकृत्रिम, स्वाभाविक उद्गार के लक्षण हैं। ये लक्षण उनकी वीर कविता मे ही पाए जाते हैं। अन्यथा, इनके दूसरे प्रकार के छदों की भाषा न तो वैसी खिचडी ही है

और न उसमे शब्दों का वैसा तोड़-मरोड़ ही है। शिवाजी के नगर की शोभा का वर्णन करते समय भूषण की शब्दावली कितनी कोमल और प्रसादयुक्त हो जाती है सो नीचे के उदाहरणों मे देखा जा सकता है—

(क) आनंद सों सुंदरिन के कहुँ बदन इंदु उदोत है।
नभ सरित से प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत है।
कहुँ बावरी सर कूप राजत बद्धमनि सोपान है।
जहँ हंस सारस चक्रवाक विहार करत सनान है॥

(ख) कितहूँ बिसाल प्रबाल जालन जटित अंगनि भूमि हैं।
जहँ ललित बागनि द्रुम लतनि मिलि रहे झिलमिल झूमि है।
चपा चमेली चारु चंदन चारिहू दिसि देखिए।
लवली लवग यलानि केरे लागहूँ लगि देखिए॥

(ग) लसत विहंगम बहु लवनित बहुभाँति बाग महँ।
कोकिल कीर कपोत केलि कलकल करंत तहँ।
मजुल महरि मयूर चटुल चातक चकोरगन।
पियत मधुर मकरंद करत झंकार भृगगन॥

भूषन सुबास फल फूल-युत, छहुँ ऋतु बसत बसंत जहँ।
इमि राजदुग्ग राजत रुचिर, सुखदायक सिवराज कहँ॥

इसी प्रकार शृंगार के उदाहरणा मे भी हम भाषा का मधुर रूप देख चुके हैं। और, यह देखते हुए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भूषण की भाषा मे भावों और वर्ण्य विषयों के अनुसार ही चढ़ाव-उतार होता जाता है। जिस प्रकार उनका चमत्कारविधान भावों

का सहधर्मी है उसी प्रकार उनकी भाषा भी भावों की सहधर्मिणी है।

भूषण के लिखे हुए तीन ग्रंथ अब तक प्रकाश मे आ चुके है—शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक । इनके अतिरिक्त उनके कुछ फुटकर पद्य भी प्रकाशित हुए हैं। वैसे तो इनका कोई ग्रथ भी प्रबंध-रूप मे नहीं है, परन्तु विषय के अनुसार इन तीन रचनाओं को अलग अलग नाम से प्रबद्ध किया गया है। पता नही कि शिवाबावनी और छत्रसालदशक का क्रम और नामकरण स्वय भूषण ने ही कर दिया था, अथवा वह बाद मे किया गया। परन्तु शिवराजभूषण भूषण ने क्रमबद्ध रूप से लिखा था। यह एक लक्षणग्रथ है और इसका विषय अलंकार है। इसमे पहले अलंकारों का लक्षण देकर बाद मे, स्वतंत्र छंदो मे, उदाहरण दिए गए हैं। उदाहरणों का विषय शिवाजी की ही जीवनी से लिया गया है। अत इन उदाहरणों मे प्राय सच्चा कवित्व देखने को मिलता है।

परन्तु लक्षणग्रथ की दृष्टि से शिवराजभूषण का कोई महत्त्व नहीं है। भूषण ने उसे रीतिकाल की केवल पद्धति का पालन करने के लिए बनाया था। उसमे उनकी रुचि नहीं मालूम होती। फलतः इसमें दिए हुए अलंकारों के लक्षण अकसर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति के दोषों से युक्त हैं। बहुत जगह उदाहरण भी लक्षण के अनुसार नहीं दिए गए हैं। इस ग्रथ मे भूषण ने अपनी ओर से भी कुछ नए अलंकारों तथा अलंकार-भेदों की गणना कराई है जो उनसे पहले के कवियों द्वारा लिखे गए ग्रंथों मे परिगणित नहीं हैं।

शिवाबावनी मे शिवाजी के ऊपर कहे गए ५२ फुटकर छंदों का संग्रह है। छत्रसालदशक मे महाराज छत्रसाल के ऊपर दस पद्य कहे गए हैं। उपर्युक्त ग्रंथो के अतिरिक्त भूषण के लिखे तीन ग्रंथ और भी बताए जाते हैं—भूषणहजारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास; परन्तु उनका अभी तक कोई पता नही लगा है। इसमे संदेह नही कि सौ वर्ष से अधिक की आयु पाकर भूषण ने बहुत कुछ लिखा होगा।

भूषण का स्थान हिंदी साहित्य मे बहुत ऊँचा है। यद्यपि उनके अतिरिक्त और भी कई कवियों ने वीर रस पर लिखा है, परन्तु उन कवियों की वाणी मे भूषण का सा ओज नहीं है। इसीलिए वे प्रसिद्धि मे न आ सके। पर इससे भी बडी बात यह है कि भूषण वीररस के ही नहीं हिंदू जाति के भी कवि हैं। अपने समय के वही सबसे बडे जातीय कवि है और उस समय के प्रतिनिधि हैं। इसका एक बडा प्रमाण यह भी है कि उनकी रचनाओं मे ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप में मिलती हैं। शिवाजी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं का उन्होने सच्चा उल्लेख किया है और कहीं भी भावावेश के वशीभूत होकर अतिरंजना द्वारा ऐतिहासिक सत्य को विकृत नहीं किया है। किसी कवि की लेखनी से ऐसा न होना उसके अद्भुत संयम और सत्यप्रियता का बडा भारी प्रमाण है। हमारा विचार है कि आजकल के स्वातंत्र्य-संग्राम के युग मे भूषण के अध्ययन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १६०७, अर्थात् सन् १८५० ई० मे हुआ था। ये काशी के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वशज और सुकवि बाबू गोपालचन्द्र (उपनाम गिरिधरदास) के पुत्र थे। इनके दुर्भाग्य से, जब ये पॉच वर्ष के थे तभी इनकी माता की मृत्यु होगई और दस वर्ष की आयु मे ये अपने पिता से भी बिछुड गए।

इस कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई। वैसे भी पढने-लिखने मे इनका अधिक मन नही लगता था। तथापि, बाद मे, अपनी प्रतिभा के कारण स्वाध्याय से ही बाबू हरिश्चन्द्र ने अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू अंग्रेजी और संस्कृत के ये अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने बँगला, अंग्रेज़ी तथा सरकृत के कई नाटकों का अनुवाद भी किया है। इन्होंने शास्त्रादिक का भी अध्ययन किया था और 'नाटक' के ऊपर शास्त्रीय ढंग का एक बडा सा लेख भी लिखा था जिसमे मौलिकता की काफ़ी मात्रा है। प्राचीन शास्त्र की अनेक अप्रयोजनीय या असुविधाजनक रूढियों का इन्होंने बहिष्कार किया। अपने इस लेख मे उन्होंने लिखा है—

"किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

... ..

" नाट्यकलाकौशल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।

"अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितात अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय ग्रहण करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी.' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसधि' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, या किसी नाटकाग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है। क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

परंतु साथ ही वे यह भी लिखते हैं—"नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है,

क्योंकि जो सब प्राचीन रीति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी ”

इन उद्धरणो से भारतेन्दु के विचार-स्वातन्त्र्य, प्रगतिशीलता, समीक्षक-बुद्धि आदि उन गुणों का आभास मिलता है जो उनके अधिकाश जीवन-कार्यों के सदा प्रेरक रहे। भारतेन्दु ने अधिक आयु नही पाई—सन् १८८५ मे, ३५ वर्ष की आयु मे ही, उनका देहावसान होगया। इसमे से भी प्रारंभ के १६-१७ वर्ष निकाल देने चाहिए, क्योंकि इनका सार्वजनिक जीवन इनकी जगन्नाथ यात्रा के बाद से आरभ होता है जो इन्होंने सन् १८६५-६६ मे की थी। केवल १७-१८ वर्ष के भीतर इन्होंने जितना अधिक कार्य कर दिखाया उतना किसी साधारण व्यक्ति से संभव नही। इन्होने कई एक स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि स्थापित किए तथा कई पत्र-पत्रिकाएँ निकाली। कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं, जिनमें स्वय पारितोषिक दिया करते थे, तथा सब मिलाकर लगभग पौने दो सौ ग्रन्थ बनाए और ७५ ग्रन्थो के बनने मे प्रेरक का कार्य किया।

ईश्वर-दत्त प्रतिभा तो उनमे थी ही, परन्तु उनके मन और हृदय के विकास मे उनके भ्रमणों का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। उन्होंने यात्राएँ खूब की जिससे जगह-जगह के रीति-रिवाज, विचार प्रणाली, नई सभ्यता और उससे उत्पन्न नई समस्याओं का अध्ययन करने का उन्हे अच्छा मौका मिला। वे बड़े भावप्रवण थे और उनका हृदय स्वाभाविक सहानुभूति, सरसता और सत्य से भरा हुआ था। फलतः उनकी यात्राओं के परिणाम मे हम उन्हे

बड़े ऊँचे देशभक्त, समाज सेवी और समाज-सुधारक के रूप मे देखते हैं। उनका साहित्य देश के लिए दर्द से भरा हुआ है, समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य करता है, अथवा फिर उनका उपहारा करता है और मर्मस्थलों पर कोमलता तथा सहृदयता से स्पर्श करता है। साहित्य मे भी उन्होंने सुधार और पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने खड़ी बोली गद्य का एक प्राजल और सुसंस्कृत रूप स्थापित किया तथा ब्रजभाषा-कविता की अव्यंजकता, अबोध्यता को हटाया—उसमे से परपरायुक्त, दुर्बोध्य शब्दावली को निकाल कर सरस भावुक कविता की नींव डाली। नाटक-रचना का अवतार भी हिन्दी साहित्य मे इन्ही से होता है। इनके पहले के जो दो एक नाटको के नाम सुनाई देते है, वे नगण्य से है।

यों तो भारतेन्दु ने ईश्वरभक्ति, राजभक्ति, इतिहास आदि के सबंध में भी यथेष्ठ लिखा है, एक-दो अधूरे उपन्यासों की भी रचना की है, परन्तु उनका पूर्ण गौरव कवि तथा नाटककार—विशेष रूप से नाटककार—की हैसियत से ही है।

मिश्रबंधुओं ने अपने हिन्दी नवरत्न मे इनके १६ नाटक गिनाए हैं। रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार भारतेन्दु ने १४ नाटक लिखे। इन नाटकों मे कई तो संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेज़ी के अनुवाद हैं, कुछेक अपूर्ण है। रायबहादुर साहब के कथनानुसार इन्होंने सात मौलिक नाटकों की रचना की। संभवतः अपूर्ण मौलिक नाटकों की भी इनके साथ ही गणना कर मिश्रबंधुओं ने इस संख्या को नौ बतलाया है।

यद्यपि भारतेन्दु अनुवाद कर्म मे भी पूर्ण सफल हुए हैं—उनके अनूदित नाटकों मे मौलिक रचना का सा आनन्द आता है—तथापि उनके निजी गुणों की खोज उनकी मौलिक रचनाओ में ही की जा सकती है। "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति", 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'विषस्य विषमौषधम्' और 'अन्धेर नगरी" मौलिक नाटक हैं। इनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' बहुत प्रसिद्ध हैं, और स्वय भरतेन्दु को भी वे बहुत पसन्द थे। सत्य भारतेन्दु का जीवन व्रत था। सत्य हरिश्चन्द्र को भगवदर्पण करते हुए वे कहते हैं—तुम्हारे सत्य-पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया गया है'। नाटक के अन्दर नारद जी कहते हैं—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न सत्यविचार ॥

यहाँ राजा हरिश्चन्द्र के उल्लेख मे कवि हरिश्चन्द्र का भी संकेत है, क्योंकि प्रस्तावना मे सूत्रधार पहले ही कह चुका है।

जो नृप गुन हरिचन्द मैं जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

इसी नाटक का भरत-वाक्य है—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहे।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहि मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

नाटक के उपक्रम मे भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना स्कूलों के लडकों के पढ़ने-पढाने के लिए बनाई गई थी, फलत इसमे शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों मे पढाई जाने वाली पुस्तक मे भी 'स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै' आदि जैसी बाते लिखना—वह भी एक ऐसे समय मे जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता जनता को उतनी भी प्राप्त नही थी जितनी कि आज-कल है—भारतेन्दु की परम देशभावना निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है।

उत्कट जातीय भावना तथा देश-हितैषिता की सच्ची लगन मे अनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है, पूर्व गौरव की स्मृति, आत्मग्लानि, लाछना, व्यंग्य, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ समय पर अपनी क्रीडा किया करती हैं। 'भारत-दुर्दशा' पूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और उसम ये सब वृत्तियाँ हृदय के सच्चे संयोग के साथ स्थल स्थल पर दिखाई देती हैं। छठे अंक के आरंभ मे भारत भाग्य कह रहा है—

हाय भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्सदेह परमेश्वर उससे ऐसा ही रूठा है ? हाय क्या भारत के वे दिन फिर न आवेंगे ? हाय यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था।

भारत के भुज बल जग रच्छित, भारत-विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत बिस्तारा, भारत भय कपत संसारा।
जाके तनिकहि भौंह हिलाये, थर थर कंपत नृप डर पाए।
जाके जय की उज्ज्वल गाथा, गावत सब महि मंगल साथा।

... ...

कहा करी तकसीर तिहारी, रे बिधि रुष्ट याहि की बारी।
सबै सुखी जग के नर नारी, रे बिधिना भारतहि दुखारी।

. . . ..

हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, तेहि दिन क्यों नहिं धरनि समायो।

भारत-दुर्दैव ने पूर्ण रूप से भारत का पीछा पकड लिया है। वह भारत को खाक मे मिला देने के लिए कटिबद्ध है और उसने अपनी सेना तैयार कर रक्खी है। अपनी तैयारी पर वह इस प्रकार सन्तोष प्रकट करता है—

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है। अबकी हाथ में वह भी साफ है। भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँग्रेजी अमलदारी में भी हिन्दू न सुधरें! लिया भी तो अँगरेजों से औगुन? हहाहा! कुछ पढ़े-लिखे मिल कर देश सुधारा चाहते हैं! हहा हाहा? एक चने से भाड फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकडो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बडा मेरा मित्र हो उसको उतना बडा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख! यह क्यों? मैं अपनी फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देख कर) अरे कोई है? सत्यानाश फौजदार को तो भेजो।

रोग, आलस्य, मदिरा, अहकार आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। ये सब अपने अपने उपाय तथा कारनामों का बयान करते हैं। आलस्य कहता है—

हहा! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पी पोस्त तो या कूँडी के उस पार या इस पार। ठीक है.....

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर-जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।

... ...

और क्या। काजी जी दुबले क्यों हैं, शहर के अँदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।' आनन्द से जन्म बिताना। बस खाना, .बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। तवंगरी बदिलस्त न बमाल। दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त......

भारत की दुर्दशा को देखकर कवि जब बहुत ही कातर और विह्वल होता है तो 'नीलदेवी' मे करुणानिधि का आँचल पकड़ता है—

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए।
जागत नेकु न जदपि बहुत विधि भारतबासी रोए।
यक दिन वह हो जब तुम छिन नहि भारत हित बिसराए,
इन के पसु-गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई,
अपनी सपति जानि इनहि तुम गह्यो तुरतहि धाई।
प्रलय-काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-सहारी,
ताकी धार भई अब कुठित हमरी बेर मुरारी।

इसकी अन्तिम पंक्ति मे जितनी वेदना और शिकायत भरी हुई है उसका अनुभव एक विप्रलब्ध आर्त हृदय को सहज मे ही हो सकता है—परन्तु केवल रोने से या दुर्दशा को देखते रहने से क्या कुछ सधता है ? इसलिए—

चलहु बीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ,
लेहु म्यान सों खरग खाचि, रन-रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठौ धनुस पै धरि सर साधौ,
केसरिया बानो सजि सजि रन-ककन बाँधौ।
जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारैं,
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद विचारैं।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी,
सिह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी।
तनिकहु सक न करहु, धर्म जित जय तित निश्चय,
पदतल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय।

तथापि यह नही समझा जाना चाहिए कि भारतेन्दु राजद्रोही थे। देशभक्ति का अर्थ राजद्रोह नही है, यद्यपि भारतेन्दु को अपनी स्पष्ट-वादिता के (तथा कुछ दूसरों के मात्सर्य के) कारण थोडे-से राज-कोप का भी भाजन बनना पडा था। उन्होंने राजभक्ति पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं तथा कई नाटकों मे भी राजभक्ति-सूचक उक्तियो का समावेश किया है। वास्तव मे भारतेन्दु के क्षोभ का सबसे बडा कारण थी भारतवासियों की अनेक हानिकारक अंध-परपराएँ, दुर्गुण-वृत्तियाँ, तथा अँगरेजी शासन मे पैदा हुई भारतीयों की अकल्याणकरी अनुकरण-प्रवृत्ति। 'नीलदेवी' उनका एक प्रमुख जातीय नाटक है और इसकी रचना मे अपने कई अन्य नाटकों की अपेक्षा वे अधिक सफल भी हुए हैं। इसकी प्रस्तावना मे अपने ध्येय को उन्होंने इस तरह समझाया है—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुःख है। .... जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेद-सिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि-देश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दु.ख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें।

किंतु और बातों में जिस भाँति अंगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सपत्ति विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत गृहस्थ जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोती, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुलपरंपरामात्र है और कुछ नहीं है।"

अपनी भारत-हितैपिता के कारण अंग्रेजों के कृपापात्र राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द से इनका सैद्धातिक विरोध था, यद्यपि वैसे ये उनको अपने गुरु के समान भी मानते थे। दोनो मे भाषा-सबंधी भी बडा भारी मत-भेद था। राजा सहब की भाषा उर्दूप्रधान थी तो इनकी यथार्थ हिन्दी। दोनों के भेद और विरोध इतने स्पष्ट थे कि वे व्यवहार तक मे दृष्टिगोचर होते थे। कहा जाता है कि बाबू हरिश्चन्द्र को जनता द्वारा 'भारतेन्दु' की उपाधि दिया जाना, अपने वास्तविक रूप मे, राजा साहब को सरकार द्वारा 'सितारे-हिन्द' की उपाधि मिलने की प्रतिक्रिया-मात्र था।

भ्रम हो सकता है कि भारतीय दुर्दशा के सबध मे इनकी यह करुणा तथा इनके व्यावहारिक जीवन मे विरोधो की बहुलता ने इनकी चित्तवृत्ति को बहुत गभीर अथवा उदासीन बना दिया होगा। पर वस्तुत. वे बड़े जिदादिल, विनोदप्रिय, और जिसे बोलचाल की भाषा मे 'फक्कड' कहते हैं सो, थे। इन्हें तरह-तरह के शौक थे—

चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पुलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
(अंधेर नगरी)

(२) अंधेर-नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।

...

साँचे मारे-मारे डोलैं, छली-दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं।
प्रकट सभ्य अंतर छलधारी, सोई राज-सभा बल भारी।
साँच कहैं ते पनही खावैं, झूठे बहुविधि पदवी पावैं।
भीतर होइ मलिन की कारो, चहिऐ बाहर रँग चटकारो।
धर्म-अधर्म एक दरसाई, राजा करै सो न्याव सदाई। (अंधेर०)

(३) राजा—बैठिए

वेदान्ती—अद्वैतमत के प्रकाश करनेवाले भगवान् शंकराचार्य इस माया-कल्पित मिथ्या संसार से तुमको मुक्त करें।

विदूषक—क्यों वेदान्तीजी, आप मांस खाते हैं कि नहीं?

वेदान्ती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है?

विदू०—नहीं, कुछ प्रयोजन तो नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदान्ती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो भक्षण कैसे करते होंगे।

(वेदान्ती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े।)

विदू०—(बंगाली से) तुम क्या देखते हो? तुम्हें तो चैन है। बंगालीमात्र मच्छ-भोजन करते हैं।

बंगाली—हम तो बंगालियों में वैष्णव हैं। नित्यानन्द महाप्रभु

के संप्रदाय में हैं और मांस-भक्षण कदापि नहीं करते और मच्छ तो कुछ मांस-भक्षण में नहीं।

(वैदिकी हिंसा०)

(४) मीन काटि जल धोइए, खाए अधिक पियास।
अरे तुलसी प्रीत सराहिए, मुए मीत की आस ॥

राम रस पीओ रे भाई

अरे मीन पीन पाठीन पुराना भरि भरि भार कहारन आना।
महिष खाइ कर मदिरा पाना अरे गरजा रे कुंभकरन बलवाना ॥

रामरस पीओ रे भई

..

अरे एकदशी के मछली खाई।
अरे कबौ मरे बैकुंठे जाई ॥

रामरस पीओ रे भाई

(वैदिक हिंसा ०)

(५) सन् १८०२ में जो अहदनामे हुए हैं उनमे तो सरकार को गायकवाड़ की ग्वानगी बातों में बिलकुल अधिकार है। फिर यह रोना क्या ? हम तो जानते हैं कि जब मल्हारराव ने लक्ष्मीबाई से विवाह किया तभी से उसकी बड़ी बहन दरिद्राबाई भी इनके ताक में थी और समय पाकर अपनी बहन के पास आगई। शास्त्रों में लिखा है कि लक्ष्मी दरिद्रा दोनों बहन हैं। पर भाई! यह कन्या फली नहीं, मुद्राराक्षस की विषकन्या हो गई।......

और नहीं तो क्या! या बगल में माहताब हो या आफताब, या

साकी हो या शराब । भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के ? एक बात में तो ये रावण से बढ गए कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया. मुहम्मदशाह और वाजिद अली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलक हिन्दुओं से कैसा छूटेगा । विधवा-विवाह सब कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती-विवाह निकाला । भला मुसलमान होता तो तिलाक दिलवा के भी हलाल कर लेता

(ऊपर देख कर) क्या कहा ? और खानदेश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया । लो भया तब क्या ? हहाहा ! भला तब हम क्या इतना झंखते थे । अहा धन्य है सरकार ? यह बात कहीं नहीं है । दूध का दूध पानी का पानी । और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता । यह इन्हीं का कलेजा है । हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे । अहा ! हमारी तो पुरोहिती फिर जगी । हमें मल्हारराव से क्या काम, हमे तो उस गद्दी से काम है । "कोउ नृप होउ हमै का हानी" धन्य अगरेज ।

.. .. (विषस्य विषमौषधम्)

ऊपर के पाँचवे उदाहरण में प्रसग परस्त्री-गमन के कारण महाराज मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने का है। 'विषस्य विषमौषधम्' एक 'भाण' रचना है जिसमे एक ही व्यक्ति आरभ से अन्त तक बोलता है । यहाँ भंडाचार्य नामक पात्र बोल रहा है। इसकी उक्ति मे स्पष्ट अर्थ तो जो है सो है ही, परन्तु बारीक व्याज-स्तुति की झिल मिल झलक ही, वास्तव में, इस उक्ति का प्राण है ।

साहित्यिक सौन्दर्य—सरसता, भावुकता, कल्पना, चमत्कार—की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं। 'चन्द्रावली' मे तो विशेपत ये पूर्ण कवि-रूप मे अवतरित हुए हैं। सत्य हरिश्चन्द्र' मे गगा का निम्नलिखित वर्णन कितना मनोमोहक है। प्रत्यक्ष-चित्रण की पूर्ण गरिमा है, चित्र मे प्राण जैसे छलछला रहे हों।—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत,
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत, मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सबके मन भावत,
दरसन, मज्जन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत।
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत,
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका,
घहरत घंटा धुनि, धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत,
बारिज नाते ससि-कलक मनु कमल मिटावत।
सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत,
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत
दीठि जहीं जहँ जाति, रहति तितही ठहराई,
गंगा-छवि हरिचन्द कछू बरनी नहि जाई।

'कहूँ बँधे नवघाट से' लेकर अन्त तक पढ़ते-पढ़ते पाठक के नेत्रों के सामने एक दृश्य-सा उपस्थित हो जाता है जो कुछ क्षण के लिए तल्लीनता की अवस्था उत्पन्न कर देता है। इसमें 'बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत' में जो काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा का सम्मिलन है वह कोमल कल्पना की एक अपूर्व सरसता और मौलिकता का प्रसाद है।

'चन्द्रावली' में प्रेम व्यथित नायिका अपनी दशा का वर्णन करती है—

मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी,
कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै,
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमही अपुनी दशा जानैं सखी,
निसि सोवती है किधौं रोवती हैं॥

अन्यत्र वही कह रही है—

जग जानत कौन है प्रेम-बिथा,
केहिसों चरचा या वियोग को कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोउ,
क्यों बिन बात की रारहि लीजिए।
नित जो हरिचन्द जू बीतै सहै,
बकि कै जग क्यों परतीतहि छीजिए।

सब पूछत मौन क्यों बैठि रही,
पिया प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए।

प्रकृति-वर्णन मे सन्देह के साथ उत्प्रेक्षा का तथा दृश्यचित्र का निम्न पंक्तियों मे अच्छा समावेश है। यह कालिन्दी का वर्णन है—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज शोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर कों सिमिटि सबे छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज शोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

... .

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥

कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥
कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराए ॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायौ कै तीर मैं, ब्रज निवास लखि हिय हरसि ॥

प्रकृति के भिन्न भिन्न पदार्थों को देखकर प्रिय के भिन्न भिन्न अगों का स्मरण होना, भावना के अतिशय होने पर, प्रकृति को प्रिय-मय बनाना है, प्रकृति गोया कि प्रिय का छाया-चित्र है। "देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छोरे मेरे हिय फहरि-फहरि उठे" जैसी कविता इसी प्रकार के छायाचित्रों को प्रस्तुत करती है। प्रकृति का संबोधन करके प्रिय का समाचार पूछने वाली नायिका उन्मादिनी हो सकती है, पर जो कवि उससे ऐसा कराता है वह तो प्रकृति मे भी मानव-प्राणों के स्पन्दन को ही देखता है, प्रकृति को मानवीय सहानुभूति से समृद्ध ही समझता है। और, सचमुच, प्रकृति से यदि मनुष्य को सहानुभूति और आश्वासन की प्राप्ति नहीं होती तो मनुष्य को प्रकृति से सरोकार ही क्या है? तुलसीदास के विरही राम 'खग मृग और मधुकर-श्रेणी' से सीता का पता पूछते समय कोरा असंबद्ध प्रलाप नहीं करते हैं, उनके आचरण मे एक परम सूक्ष्म जीवन-तन्तु की समस्या, समीक्षा

और समाधान, तीनों तत्त्व, एक साथ निहित हैं। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली भी अपने प्रिय की खोज मे 'अहो, अहो' की पुकार मचाती हुई 'बन के रूख', कदब, कुञ्ज, वन, लता, जमुना, खग, मृग, गोवर्धन आदि सबका आह्वान करती फिरती है। भारतेन्दु ने प्रकृति और मानव जीवन के पारस्परिक बिंब-प्रतिबिंब भाव को समझने की चेष्टा की है, और इस सरस, सकरुण, सयोगान्त नाटिका ('चन्द्रावली') मे उनको प्रकृति-दर्शन का सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुआ है। तथापि उनके समस्त रचना-समूह पर दृष्टिपात करने से यही अनुमान होता है कि अधिकतर वे प्रकृति की ओर से उदासीन ही थे। वे प्रकृति के कवि नही थे।

भारतेन्दु आशु कवि थे। वे तत्काल कविता बनाते थे। और वे जन्मत' ही कवि थे। पाँच वर्ष की उम्र मे ही उन्होंने यह दोहा बनाया था—

> लै ब्योंड़ा ठाढे भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान॥

वे उर्दू के ढग की शायरी भी रच सकते थे।

ऊपर जितने गद्य और पद्य के उदाहरण दिए गए है उन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने दोनों प्रकार की भाषा के रूप-गठन मे क्या कार्य किया है। उनसे पहले खडी बोली का कोई यथार्थ रूप ही न था। उसमे ब्रजभाषा का थोडा-बहुत मिश्रण तो रहता ही था, परन्तु, प्रकारान्तर में भी, उसकी कोई निर्दिष्ट रूपरेखा न थी। 'प्रेमसागर' मे एक नमूना देखने में आता है तो 'रानी

केतकी की कहानी' मे इससे बिलकुल भिन्न। भारतेन्दु ने शुद्ध खड़ी बोली लिखी जिसकी जंग खाई हुई शृखलाओं को तोड़ कर इन्होंने उसमे लचक पैदा की। यद्यपि यह उर्दूमिश्रित हिन्दी के पक्षपाती नही थे तथापि कही कहीं चालू उर्दू शब्दो का प्रयोग करने मे इन्होंने अधिक संकोच भी नहीं किया। साथ ही पात्रविशेष के मुख से उसकी विशेषता दिखाने के लिए इन्होंने उक्ति के बीच में कही कही अंगरेज़ी शब्द जैसे पोलिसी, डिसलायल्टी, मेडल आदि भी कहलाए हैं। इनके गद्य में जटिल अलंकारस्पृहा अधिक देखने मे नही आती। और नाटकों मे अधिकतर बोलचाल की चुस्ती दिखाई देती है। भारतेन्दु की भाषा उनके समसामयिक तथा अनुगामी लेखकों के लिए आदरणीय व अनुकरणीय हुई।

पद्य के लिए इन्होने ब्रजभाषा को ही अपनाया। यह शायद इसलिए कि ब्रजभाषा मे माधुर्य अधिक है, अथवा इसलिए कि इनके समय तक खड़ी बोली साहित्यिक भाषा की पदवी तक न पहुँच सकी थी। परंतु इस ब्रजभाषा मे भी उन्होंने सुधार किया। शब्दों की तोड़-मरोड, जो पिछले कवियो मे अधिक बढ गई थी, इन्होंने बिलकुल भी नही की। इनकी ब्रजभाषा सरल, सुबोध और प्रसाद तथा माधुर्य गुणो से युक्त है। यदि कही कोई दुर्बोधता आली भी है तो केवल वहाँ जहाँ वह पिछले समय की कृत्रिम अलंकार-प्रणाली का अनुसरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे चन्द्रावली अपने नेत्रो को हिंडोला बनाती हुई कहती है—

पल पटुला पै डोर प्रेम की लगाय चारु
आभा ही के खभ दोय गाढ के धरत हैं।
सुमका ललित कामपूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
हरीचद आँसू दृग नीर बरसाई प्यारे
पिया गुन गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढाई सदा
बिरह हिडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

अन्यथा तो भारतेन्दु मे भावुकता और सरसता ही सबसे अधिक है जिसके कारण उनकी रचनाएँ अति मोदकारी और प्रभावशालिनी हो गई हैं। इन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अतर् की प्रेरणा से भाव-मग्नता से ही लिखा है। अत इनकी नाटकीय और काव्य रचनाओं मे तत्कालीन स्पर्श और प्रभाव की शक्ति है। काव्य द्वारा धनोपार्जन की लालसा इन्हे नहीं थी, यह इतने उदार थे कि स्वयं दूसरे कवियों—लेखकों को दिया करते थे। परतु यश की लालसा का होना असंभव नही, क्योंकि इन्हे अपने गुणों और शक्तियों का ज्ञान था जिन्हे अपने सूत्रधारों के मुख से इन्होंने प्राय: कहलवाया है, यथा

परम प्रेमनिधि रसिक वर, अति उदार गुन खान
जग जन रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान।
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस,
ता सुत श्रीहरिचंद को, को न नवावै सीस।
जग जिन तृन सम करि तज्यो, अपने प्रेम प्रभाव,
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नॉव।

चंद टरै सूरज टरे, टरे जगत के नेम,
यह दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरे न अविचल प्रेम ।

भारतेंदु के अनुवादों में भी मौलिक रचना का सा आनंद आता है, यह पहले कहा जा चुका है। यहाँ एक उदाहरण (मुद्राराक्षस के नांदी-पाठ में से) दिया जाता है —

कौन है सीस पै चंद्रकला कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी,
हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान पियारी।
नारिहि पूछत चंद्रहि नाहि कहै बिजया जदि चंद्र लबारी,
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी।
पाद प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु बोझ के मारे,
हाथ नचाइबे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहि तारे।
देखन सों जरि जाहि न लोक न खोलत नैन कृपा उर धारे,
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे।

भारतेंदु हिंदी के लिए एक देवदूत या पैगंबर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। नाटक-रचना के तो वे जन्मदाता हैं ही, परंतु यदि कहा जाय कि हिंदी-भाषियों मे साहित्यिक अभिरुचि एवं साहित्यिक जिज्ञासा उत्पन्न करके एक प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य के भी प्रतिष्ठायक वही है तो कोई अत्युक्त न होगी। क्या हम निश्चय के साथ बता सकते हैं कि यदि भारतेंदु का अवतार न हुआ होता तो हिन्दी के पिछले ५०-६० वर्षों का क्या इतिहास बना होता ?

भारतकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरणगुप्त का जन्म सवत् १६४३ मे हुआ। ये अग्रवाल वैश्य हैं और चिरगाव जिला झाँसी के रहने वाले हैं। वहीं इन्होने एक प्रेस भी खोल रक्खा है और अपनी पुस्तके स्वय ही प्रकाशित करते हैं। गुप्तजी अपने को प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का शिष्यवत् समझते हैं, ऐसा कहा जाता है। जब द्विवेदीजी 'सरस्वती' का संपादन करते थे तब गुप्त जी ने अपनी कविताएँ उक्त पत्रिका मे प्रकाशित कराना आरंभ किया था। इनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना 'भारत-भारती' सं० १६६६ मे प्रकाशित हुई जिससे इनकी एकदम प्रसिद्धि होगई। गुप्तजी ३० वर्ष से हिन्दी सेवा कर रहे है। इनकी अब तक लगभग तीन दर्जन छोटी-बडी पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमे एक महाकाव्य, कई एक खंडकाव्य, कुछ फुटकर रचनाएँ, दो या तीन नाटक तथा पाँच या छै पद्यबद्ध काव्यानुवाद है।

गुप्तजी की मौलिक रचनाओं से उनके व्यक्तित्व के संबन्ध मे हमे कई आवश्यक तथ्य प्राप्त होते है जिनकी कि मूलभूत प्रेरकशक्ति ही उनके निर्मित साहित्य की रूपविधात्री है। सर्वप्रथम हम इनकी भगवदविषयक भावनाओं को देखेंगे।

अधिकाश लोग ईश्वर के संबन्ध मे जिस प्रकार की सगुण निर्गुण मिश्र धारणाएँ रखते हैं, सामान्यत' उनको अमान्य न करते हुए गुप्तजी विशेषतः साकार राम के अनन्य भक्त है। दाशरथि राम

इनके इष्टदेव हैं। इन इष्टदेव के प्रति इनकी भक्तिभावना इतनी गहरी है कि उसकी तीव्र संवित्ति मे ये परोक्ष ढँग से निराकार वादियों, और प्रत्यक्ष मे किसी रामेतर ईश्वर, को क्षमायाचना-पूर्वक प्रत्याह्वान तक करने को तैयार हैं। ये पूछते हैं और फिर कहते हैं।

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।

इनके राम कृष्ण से भिन्न नहीं है और गुप्तजी ने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कह कर उपलक्षित भी किया है (यथा, युधिष्ठिर के इन शब्दो मे—'स्वय हरि है वे पुरुषोत्तम') तथापि इनका हृदय तुलसीदासजी की भाँति, राम के रूप से ही द्रवित होता है, जैसे—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के सग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग॥

गुप्तजी के हृदय की इस राम-मयता का एक सबल प्रमाण यह है कि इनकी जो रचनाएँ महाभारत के कथानको के आधार पर हैं उनमे भी मंगलाचरण का पद्य प्रायः रामोन्मुख या रामचरितोन्मुख ही रहता है। इनका यह राम अपने प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी भी, रूप मे, पूर्ण परब्रह्म है और अपनी माया के खेल खेलता रहता है। राम सर्वत्र व्याप्त है—'रमा है सब मे राम'—और उस कौतुकी को संबोधित करके गुप्तजी कहते हैं—

अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया ।

खोलूँ जब तक पलक, कौतुकी, तुमने पेड़ लगाया ॥

भाँति भाँति के फूल खिले हैं, रंग रूप रस गंध मिले हैं ।

भौंरे हर्ष-समेत मिले हैं, गुंजारव है छाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल०

यह जो अम्लमधुर फल लाया, उसने किसे नहीं ललचाया ।

वह पछताया जिसने खाया, और न जिसने खाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल०

फल में स्वाद, सुगन्ध कुसुम में, पर है मूल कहाँ इस द्रुम में ?

राम तुम्हारी माया, अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया ॥

निर्गुण से सगुण साकार बन कर 'लीलाधाम' 'अखिलेश' 'राम' अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देता है, जिसमें उसका उद्देश्य है—'पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिए भू-भार को।' उसकी भक्तवत्सलता कवि को दासभाव की ओर प्रवृत्त करती है, परन्तु उस भक्तवत्सलता की उदारता मे एक और भी अनुभव होता है—

डरता था मैं तुझसे स्वामी, किन्तु सखा था तू सहगामी ।

मैं भी हूँ अब क्रीडा कामी

जिसके कारण प्रियतम और प्रियतमा का संबंध भी दूर नहीं रह जाता—

अच्छी आँख मिचौनी खेली ।

बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली ॥

इस संबंध मे उलहना देने का भी अधिकार कवि अपना लेता है—

तुम्हीं भर देते हो प्याला।
और बताने लगते हो फिर तुम्हीं मुझे मतवाला॥

तथा विश्रंभ की अवस्था का अनुभव करता हुआ, बेतकल्लुफ बनता हुआ सा, उससे पूछता है—

बतला दो संकोच छोड कर, तुम किसमें प्रसन्न होगे।
मुझ से अपने को लोगे तुम, अथवा मुझको ही लोगे॥

परन्तु समय समय पर इन भिन्न भिन्न भावनाओं के उठने पर भी, गुप्तजी का मुख्य भाव तो दासभाव तथा भक्ति का ही है, इनके स्फुट संग्रह झंकार मे इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियो का पता मिलता है। दासभाव की भक्ति के साथ दैन्य का जो संयोग रहा करता है वह भी गुप्तजी मे हमे दिखाई देता है, यथा—

आया यह दीन आज चरण शरण आया।
हाय, सौ उपाय किए फल न एक पाया॥
सर्व अहंकार गर्व, नाथ हुआ आज खर्व,
पाऊँ अब प्रगति पर्व, मिटे मोह माया॥ आया यह दीन०॥

भक्ति की अनन्यता का रूप हमे निषाद-राज के निम्नलिखित वचनो में मिलता है जिस समय कि गंगा पार उतरने के बाद सीता उसको स्वर्ण मुद्रिका भेट देने लगी थीं—

.. . . यह कैसी कृपा ?
न हो दास पर देवि, कभी ऐसी कृपा।
क्षमा करो, इस भाँति न तज दो मुझे।
स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे॥

उस भक्तवत्सल लीलाधाम लोकेश को अपना इष्टदेव बनाने के बाद यह स्वाभाविक हो जाता है कि कवि उसी के चरित्र से अपने आदर्शों का भी संग्रह करे जो कि 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' है और जो इस पृथ्वी पर इसलिए अवतीर्ण हुआ है कि 'जिसमे बनी रहे मर्यादा'। उसके जीवन चरित्र से प्राप्त आदर्शों मे जाति-भावना और देशभावना का प्रमुख स्थान रहना अवश्यंभावी है, क्योंकि राम का चरित आर्यसंस्कृति की पूर्ण मर्यादा का प्रतिनिधि है और उनकी लीलाक्षेत्र यही आर्य-भूमि है। भारतवर्ष पर अत्याचार करने वाले लोगों की राम के समय मे भी कमी नही थी और अब भी नहीं है। उस समय भी कितने ही लोगों के हृदयों मे कुप्रवृत्तियों ने अपना अड्डा अच्छी तरह जमा लिया था तथा कितने ही लोग अपनी असभ्यता मे, अपने अनार्य आचरण मे, अपने जीवन का सार्थक्य समझा करते थे। ये ही बुराइयाँ वर्तमान भारत मे भी अपने बहुत ही ज्यादा अतिरंजित रूप मे बद्धमूल हो चुकी हैं और बहुत सी होती जा रही हैं। अपनी सहज सहृदयता मे कवि ने जिन अत्याचारों को खुली आँख से देखा उनसे उत्पन्न हुई वेदना रामचरित का संबल पाकर उद्गार बन गई और आशा से अनुप्राणित होकर उसने उद्बोधन और अनुष्ठान का स्वरूप ग्रहण किया। गुप्तजी की जाति-भावना, देश-भावना तथा मर्यादा-भावना का स्रोत इस देश की प्राचीन आर्य-संस्कृति ही है जिसके उद्दीपन के लिए इतिहास से उन्होंने सहायता ली है। आपस के अनैक्य के कारण "क्या पा लिया जयचन्द ने निज देश का हित हार के" जिस-

से "हा ! देखनी हमको पडी औरंगजेबी अन्त मे।" इसका नतीजा यह हुआ कि "निज देश में ही हा विधे ! परदेश हमको होगया।" इस दलित अवस्था को देख कर कवि पुराने दिनो की याद करता है और भविष्य के लिए विकल होता है—"हम कौन थे क्या होगए और क्या होंगे अभी।" 'कौन थे' के साथ 'क्या होगए, की समस्या का स्वाभाविक सबध है और कवि पूछता है—

हे देश होकर भी गृही, तू था न यों स्वार्थस्पृही।
वह धर्म की ध्रुवता कहाँ तेरी बता।
अब भूत चाहे भूत है, पर वह बडा ही पूत है।
इतिहास देता है हमें उसका पता॥

'क्या थे' का आभास गुप्त जी के प्रबधकाव्य हमको काफी दे देते हैं। 'क्या हो गए' के चित्र हमे कुछ बिखरे हुए मिलते हैं, परतु 'भारत-भारती' मे उनकी सख्या काफी है। विषय-विभाग की दृष्टि से भारत-भारती के तीन खड हैं—अतीत-खड, वर्तमान खड और भविष्यत्-खड। अतीत-खड मे भारत की प्राचीन गरिमा के बाद अवनति के आरंभ और उसके कारणों का उल्लेख किया गया है, वर्तमान-खंड मे भारतवासियों की वर्तमान अवस्था तथा उनके चरित्र मे रूढ हो गई बुराइयों का ज़िक्र है, तथा भविष्यत्-खड मे उद्बोधन है। अतीत को देख चुकने पर तुलना द्वारा जब वर्तमान दुरवस्था पर दृष्टि पडती है, तो कवि की वाणी मे स्वाभाविकत. ही जगह जगह व्यंग्य आ जाता है जिससे उसकी हृदय की सन्निविष्टता और आतरिक ग्लानि का पता लगता है। हमारे गुणों का गुप्त जी ने इस तरह वर्णन किया है—

बस भाग्य ही की भावना में रह गया उद्योग है।
आजीविका है नौकरी में, इंद्रियों में भोग है।
परतंत्रता में अभयता, भय राज-दंड-विधान में।
व्यवसाय है बैरिस्टरी या डाक्टरी दूकान में॥
है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल छद्म में,
पाण्डित्य पर-निंदा-विषय में, शूरता है सद्म में।
बस मौन में गंभीरता है, है बड़प्पन वेश में।
जो बात और कहीं नहीं वह है हमारे देश मे॥
कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ।
है सत्य या विश्वास केवल कसम खाने में यहाँ॥
है धैर्य तर्क वितर्क में, अभियोग में ही तत्व है।
अवशिष्ट दारोगागरी में सत्व और महत्व है॥
है कर्म बस दासत्व में, अब स्वर्ण में ही शक्ति है।
बस वाद में है वाग्मिता, पर अनुकरण मे सभ्यता॥
स्वाधीनता निज धर्म-बंधन तोड देने में रही॥

अभावों के ऊपर दृष्टि डालने पर कवि देखता है कि "हैं भारतीय परन्तु हम बनते विदेशी सब कहीं" तथा "हम हैं मनुज पर हाय, अब मनुजत्व हममे है कहाँ", और अन्त मे कातर होकर विलाप करता है—

भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेष है?
है और सब निःशेष केवल नाम ही अब शेष है॥

हा राम ! हा हा कृष्ण ! हा हा नाथ ! हा रक्षा करो !
मनुजत्व दो हमको दयामय ! दु ख दुर्बलता हरो ॥

उद्बोधन मे ध्वनि अधिक आशापूर्ण हो जाती है तथा उमंग मे उदारता दिखाई देती है—

जीते हुए भी मृतक सम रह कर न केवल दिन भरो।
वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न बाधाएँ हरो ॥
हे ज्ञात क्या तुमको नहीं, तुम लोग तीस करोड हो।
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड हो ॥
आओ मिलें सब देश-बान्धव हार बन कर देश के,
साधक बनें सब प्रेम से सुख शान्तिमय उद्देश के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ॥

दाशरथि राम क आदर्श से जो देशभानना और समाजभावना को पुष्टि मिलती है उससे, हम देखते हैं, संकीर्णता का सर्वथा लोप है। संकीर्णता होने पर देशभावना का सच्चा रूप ही विकसित नही हो सकता। इसीलिए तीस करोड की गणना करके, विविध सुमनो की माला के आशावाद मे, साम्प्रदायिकता और ऐक्य दोनो का सामंजस्य कराया गया है। "क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो" का अर्थ हमारी समझ मे इस सामजस्य के रूप मे ही आता है, क्योंकि इसी मे अधिक मानवीयता और स्वाभाविकता दीखती है। साम्प्रदायिकता को निर्मूल करने के लिए कहना एक असंभव कार्य के लिए कहना होगा। परन्तु साम्प्रदायिकता का जो

उत्तम रूप है उसको क़ायम रखने में वास्तविकता और उदारता का दृष्टिकोण है। सब संप्रदाय रहें, मेल से रहें, एक साध्य के लिए एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर रहें—उसमे क्या बुराई है? सम्प्रदाय मे रहता हुआ भी व्यक्ति मनुष्य बना रह सकता है। इसीलिए दयामय से मनुजत्व की भिक्षा माँगी गई है और अन्यत्र भी कहा गया है कि—"मनुष्यत्व सबके ऊपर है मान्य महीमंडल के बीच।"

सम्भव है राम-भक्ति से बल-प्राप्त आर्यसंस्कृति के पक्षपात मे हमे कवि की साम्प्रदायिकता दिखाई दे और इसीलिए हम यह कहने का आग्रह करें कि गुप्तजी ने वर्तमान अवस्थाओ के अनुकूल किसी नूतन आदर्श की उद्भावना नहीं की। इसमे सन्देह नही कि गुप्तजी आर्यसंस्कृति के उपासक हैं और उन्होने अपनी इस उपासना को कही छिपाने की कोशिश नही की है। परन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गुप्त जी कवि हैं और अपना व्यक्तित्व रखते हैं। वे देशभक्त हैं, यह उनके व्यक्तित्व का अतिरिक्त गुण है। पर, देशभक्त होने के अपराध से उन्हे एक ऐसा राष्ट्रनायक अथवा दिव्यद्रष्टा राजनीतिज्ञ भी होना चाहिए था जो वर्तमान भारतीय राजनीतिज्ञों के ऊपर कोई ऐसी नई बात कहता जिसमे आदर्श की भी हानि न हो—यह कहने का हमे अधिकार ही क्या है? और, यदि वह कोई ऐसी बात कहता तो वह बात मान्य ही किस किस को होती? हिन्दुओं के अतिरिक्त भारत मे और भी असख्य संप्रदाय हैं। लेकिन हाँ, वह हिन्दुओं को असाम्प्रदायिक

बनाने—गुप्तजी की उदार वृत्ति को देखते हुए जिसका अर्थ होगा, हिन्दुत्व की भावना को दूर कराने—की चेष्टा कर सकता था। परंतु क्या यह एक साप्रदायिकता को दूर करके दूसरी साम्प्रदायिकताओं की बलवृद्धि कराने के बराबर नहीं होता। फिर, व्यक्तित्व को नष्ट करने से राष्ट्रीयता का निर्वाह क्या सभव है? राष्ट्रीयता मे स्वयं व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति रहती है।

पर हमारी समझ मे तो सम्प्रदायों को रखते हुए उनको एक ऐसी उदारता का सदेश देना जिसम उनका अपने लिए तो अस्तित्व है पर दूसरो के लिए विशेप नही—वह भी अब से तीस वर्ष पहले के युग मे जब कि अखिल भारतीय जागृति कल्पना और प्रयोग की ही वस्तु थी—आदर्श की काफी बडी नूतनता है। एक ओर यह कह कर कि आखिर "अहले इसलाम-दल को हम बुलाकर ही रहे" जब कवि तीस करोड मे इस दल की भी गणना करता है तो हम उसमे नेता के उपयुक्त एक ऐसे साहस को भी देखते हैं जिसकी शक्ति उसकी उदारता है। वह स्पष्ट भी कहता है—"हिंदू-मुसलमान दोनों अब छोडे वह विग्रह की नीति।" इसके अतिरिक्त यह देखते हुए कि आगे चल कर, असहयोग-काल में, महात्मा गाधी के उद्योग से कवि के सन्देश को व्यवहार का भी महत्त्व प्राप्त हुआ कोई, यदि चाहे तो, गुप्तजी को भविष्य-दृष्टि का भी थोडा सा अश दे सकता है।

जिस तरह गुप्त जी की जातिभावना मे उदारता है उसी प्रकार देशभावना मे भी है। वे कहते हैं—"भरत खड का

द्वार विश्व के लिए खुला है ।" पर राष्ट्रीयता के व्यक्तित्व को छोड बैठना उचित नही है । इसलिए "पर जो इस पर अनाचार करने आवेगे, नरको मे भी ठौर न पाकर पछतावेगे ।" कही कही अपनी उदारता की सहज प्रचुरता मे गुप्तजी विश्वबन्धुत्व की ओर भी बढ जाते हैं—"ससार हेतु शत बार सहर्ष मरे हम" जिस के साथ आशा तथा कर्तव्य की संलग्नता का भी पूरा योग है— "डूबेगे नही कदापि, तरे न तरे हम ।"

राष्ट्रीयता के दो स्वाभाविक पक्ष रहा करते हैं सामाजिक और राजनीतिक । सामाजिक पक्ष मे तो गुप्तजी का दृष्टिकोण हिंदूदृष्टिकोण ही हे । हिन्दू समाज की समस्याओं पर ही उन्होंने दृष्टिपात किया है, जो स्वाभाविक है । गुप्तजी स्वयं हिन्दू है और हिन्दुओं की परिस्थितियों से ही वे विशेपरूप से परिचित हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त भारत का कोई एक व्यापक राष्ट्रीय समाज है भी नहीं । परन्तु राजनीतिक पक्ष मे हिन्दुत्व के आग्रह का कोई स्थान नही रहता, यदि राजनीतिकता का रूप देश-प्रेम है, तो देशभक्त गुप्तजी की अनेक रचनाओ मे हम उनके हृदय का वर्तमान राजनीतिक समस्याओं तथा उपायों के साथ पूर्ण सामंजस्य पाते हैं । सामाजिक परिस्थितियों के संबंध मे उनके विचारों को हमे 'भारत-भारती' के संगमस्थल में देखना चाहिए । उनके राजनीतिक विचार उनके प्रबन्धकाव्यों मे यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं । राज्य और राजा प्रजा के संबंधों के बारे मे गुप्तजी के क्या विचार हैं इसे हम नीचे के उद्धरणों मे देखेगे—

(क) एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ।
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ॥

(ख) स्वत्वों की भिक्षा कैसी।
दूर रहे इच्छा ऐसी॥

(ग) 'मुझ से कहो, राजा यहाँ का कौन है।
कुछ यत्न वह करता नहीं, कर्तव्य से डरता नहीं।
मरती प्रजा है और रहता मौन है॥
यदि भीरु वह दुर्बलमना, तो व्यर्थ क्यों राजा बना?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का?
राजा प्रजा के अर्थ है, यदि वह अपटु असमर्थ है,
कारण वही है तो स्वयं उत्पात का।
सबके सदृश उस भूप की, उस पाप के प्रतिरूप की।
वक के लिए बारी कभी पड़ती नहीं!
जूझे कि निज पद त्याग दे, सबके सदृश बलि भाग दे।
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं?
राजा प्रजा का पात्र है, वह लोक-प्रतिनिधिमात्र है।
यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह अपनी सुने।
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है॥
पर है यहाँ की जो प्रजा, जो है बनी बलि की अजा,
वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है।
डालें नहीं तो यदि अभी भर धूल मुट्ठी भर सभी।
तो धूल में मिल जाय वक सो स्पष्ट है॥

राजा प्रजा के सबंधो तथा दोनों के संबंध मे यह सार कथन गुप्तजी ने अपने 'बकसंहार'-नामक प्रबध-काव्य मे किया है, जिसमे एकचक्रा नगरी मे बकासुर द्वारा प्रजा के उतपीडन तथा उस असुर के भीम द्वारा मारे जाने का वर्णन है। बकासुर के अनाचारवर्णन मे राजा प्रजा के सबंधो के लिए प्रसंग ढूँढ निकालना गुप्तजी के किसी उद्देश्य को सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त इस कथन से कि राज्य कोई करता है और अत्याचार करने वाला कोई और है हम वर्तमान भारतीय राजनीतिक समस्या की किस वास्तविक परिस्थिति का आभास पाते हैं, यह भी ध्यान देने की बात है। साथ ही साथ पहले उदाहरण पर भी तुलनात्मक दृष्टि से गौर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमे यह भी याद आती है कि 'मुट्ठी भर धूल डालने' की जैसी कुछ बात असहयोग आन्दोलन के समय मे भी बहुत से नेताओ के मुख से कही जाती थी। इससे हम यदि चाहें तो इस बात का अनुमान कर सकते है कि कवि कमसे कम धारणा-रूप मे असहयोग आन्दोलन से पूर्ण सहमत था।

असहयोग-आन्दोलन के बाद राजनीतिक क्रान्ति का दूसरा युग १६३०-३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन म देखने को मिलता है। उस की भी ध्वनि कवि अपने राम काव्य 'साकेत' म देने का अवसर निकाल लेता है, यद्यपि वह कई अश मे अप्रासगिक ही है और १६३०-३१ के आन्दोलन की तुलना मे बैठता नही। परन्तु उससे, इसी कारण से विशेष रूप से, कवि के उत्कट देशप्रेम तथा राजनीतिक आदर्शों का सन्देह-विमुक्त पूरा पूरा अनुमान हो जाता है।

राम के वन जाते समय अयोध्या की सीमा पर, अयोध्या की प्रजा राम के पथ मे लेट जाती है और—

"जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ,
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ।

जिस पर रामचन्द्र उससे कहते हैं—

"उठो प्रजा जन, उठो, तजो यह मोह तुम।
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?॥

गुप्तजी ने अपनी ईश्वर, जाति, तथा राष्ट्र से सबध रखने वाली भावनाओं को अपने काव्य मे प्रधान ढंग से स्थान देकर अपने तद्-विषयक उद्देश्य को गुप्त नहीं रक्खा है। अतएव उनका उद्देश्य ही उनके काव्यकर्म की मुख्य प्रेरणा है। उनके इस कर्म का श्रीगणेश ही 'भारत भारती' जैसी ओजस्विनी रचना से होता है। परन्तु इससे यह भ्रम नहीं होजाना चाहिए कि गुप्तजी प्रचारक और अध्यापक की भाँति कोडा-कपची लेकर अपने उद्देश्य और सदेश को हमारे सामने रखते हैं, जैसा कि कभी कभी कुछ लोगों का प्रयास रहा करता है। गुप्त जी ने समाज और राष्ट्र के टुकडे कर के दलबन्दी की प्रकृति कभी नही दिखाई और उनकी जातीय आलोचनाएँ भी व्यक्तिगत तथा हृदयवेधी न हो कर सर्वसाधारण हैं।

इसका कारण यह है कि उद्देश्य रखते हुए भी वे सच्चे कवि हैं, उनके हृदय मे उदारता, सहानुभूति, कोमलता, करुणा आदि के सहज कविगुण प्रचुरता के साथ मौजूद हैं। गुप्त जी स्वयं 'कला के लिए कला' को नहीं मानते। कला के संबंध मे उन्होंने अपनी धारणा का

कहीं-कहीं परोक्ष ढंग से उल्लेख कर दिया है, जैसे—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला" अथवा "मानते हैं जो कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।" अथवा फिर बिलकुल स्पष्ट शब्दों मे—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

तथापि लोग केवल कला के लिए ही कला की रचना के उपासक है वे यदि थोडी देर को गुप्त जी की कुछ रचनाओं (पंचवटी, साकेत आदि) मे आए हुए जातीय—राष्ट्रीय—संकेतो की ओर से अपनी आँखे बद कर सके तो वे उनगे वास्तविक कलात्मक काव्य—'कला के लिए कला'—का भी दर्शन कर सकते हैं। जहॉ उद्देश्य और कला समान भूमि पर मिलकर एक हो जाते हैं वही तो काव्य का उच्च गौरव प्रतिष्ठित होता है।

जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे मानवी वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य है। किसी परिस्थिति से स्वयं द्रवित होना और दूसरों को द्रवित करना इस प्रत्यक्षीकरण का रूप है। राम—जाति—राष्ट्र के केन्द्र से निर्झरित होती हुई भावात्मकता गुप्तजी के हृदय मे जिस विशालता को भर देती है वही विशालता गुप्तजी को जीवन के नाना रूपो की मार्मिकता को परखने की सामर्थ्य प्रदान करती है—कही कम और कही अधिक। स्फुट पद्यों की अपेक्षा प्रबंध मे जीवन की विविधता को देखने का अवसर अधिक मिलता है। यहॉ वह एक साथ देखने को मिलती है और प्रसंग उसका

सहायक होता है। अत स्फुटों की अपेक्षा गुप्त जी की प्रबंध-रचनाओं मे भावुकता के अवसर भी अधिक दिखाई देंगे। यह सम्मति अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए है, अन्यथा उनके स्फुट पद्य भी नीरस नही कहे जा सकते और उनमे से कोई कोई तो भावुकता के बडे अच्छे उदाहरण हैं। जैसे—

(क) तेरी स्मृति के आघातों से, छाती छिलती रहे सदा।
 चाहे तू न मिले पर तेरी आहट मिलती रहे सदा॥

(ख) दो आँखें थी किन्तु एक मन, उसमे यही बुद्धि जागी।
 मन ही एक और ले लूँ तो, दो होंगे सुख-दुख-भागी॥
 सुनकर विक्रेता मुसकाया। हाँ, मैं हाट देख आया॥
 निज जीवन का एक रत्न हँस, मैंने भी रख दिया वहाँ
 वह बोला "पागल पत्थर से, मन का विनिमय हुआ कहाँ?"
 मत छूना तुम उसकी छाया॥ हाँ, मैं०

(ग) पुलकित पराग रंजित समर, हो रहा तरंगित तरल नीर,
 उड़ता है अंबर में अबीर, है नया प्रकृति का चारु चीर।
 मेरे उर में भी उमंग, तेरे कर में है कौन रंग॥
 तेरे छींटों से आज मित्र, यह मेरा पल्ला हो पवित्र।
 ये धब्बे है या सुमन चित्र, मै मनन करूँ जिनके चरित्र?
 समझूँ कुछ तेरे रंग ढंग॥ तेरे कर में है०

(घ) उन्हें स्वप्न में देख रात को प्रात काल चली मैं।
 और खोजती हुई उन्ही को, घूमी गली गली में।
 कितनी धूल छान डाली॥ मैं यों ही भटकी हे आली॥

साहस करके चली गई मैं, किन्तु कहाँ तक जाती।
पैर थके सूझा न पंथ भी, धड़क उठी यह छाती।
थी बयार या व्याली ॥ मैं यों ही
आँख मूँद कर चिल्लाई तब, "कहाँ छिपे हो बोलो।"
करस्पर्शयुत सुना उसी क्षण, "तुम आँखें भी खोलो।
ओ मेरी मतवाली ॥" मै यों ही

प्रबंध-रचना की भावुकता का बहुत कुछ उत्तरदायित्व प्रसंग के ऊपर रहा करता है। प्रसग-गर्भत्व तो स्फुट पद्यो मे भी रहता है परन्तु प्रबंध के धारावाह और तत्संबंधी भावपरंपरा मे भावोत्कर्ष का एक क्रम सा रहता है जो किसी विशेष स्थल पर पहुँच कर मार्मिकता और प्रभाव का पुञ्जीभूत चरमतथ्य बन जाता है। परिस्थितियाँ और चरित्र प्रसंगोत्थान के ताने-बाने हैं जिस पर प्रबंध की विशदता और चारुता निर्भर रहती है। चरित्र में कार्य और वार्तालाप का उत्तरदायित्व रहता है। परिस्थितियाँ कहीं तो पात्र के कार्यादिक से व्यंजित की जाती हैं और कहीं कवि अपनी वर्णनचातुरी से उन्हें प्रभावपूर्ण रूप मे उपस्थित करता है।

गुप्तजी के सब प्रबंधकाव्य समान महत्व के नहीं हैं। 'साकेत' महाकाव्य को छोड कर उनके शेष प्रबंधकाव्य खंडकाव्य हैं जिनमे से कितने ही (विकट भट, जयद्रथवध, रंग मे भंग, गुरुकुल आदि) उत्साह-भाव से प्रेरित ओजमयी कृतियाँ हैं। इस प्रकार की कविताएँ ओजसंपादन करके सर्वसाधारण के

हृदयों को, कौतूहल और विस्मय की पद्धति के द्वारा, अभिभूत करने मे अवश्य समर्थ होती हैं और, इस प्रकार, आनन्दप्रदायिनी भी होती हैं, परन्तु उनमे विविध परिस्थितियों का अभाव रहने से मुख्य चरित्र की सैद्धान्तिक एकरसता मे—दूसरे शब्दो मे, संचारियों आदि के अभाव मे—उत्थान-पतन के वे दृश्य उपस्थित नहीं होते जो भाव को पूर्ण रस बनाने में समर्थ होते हैं। पर यह कहते समय हमे इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि उनमे कवि का दृष्टिकोण शायद कवित्व की अपेक्षा उद्देश्य के प्रति अधिक ममत्व रखता है । तथापि ऐसे काव्यों में भी संचारियो के लिए यदि कही परिस्थितियाँ आ जाती हैं तो भावुकता का उन्मेष अच्छा बन पडता है। इस प्रकार के स्थल 'वकसहार' मे अनेक आए हैं जहाँ वीरप्रसू कुन्ती वक से भिडने के लिए अपने पुत्र को भेजती हुई अपने मातृहृदय के अन्तर्द्वन्द्व का भी परिचय देती है, यथा—

फिर होगई गंभीर वह, जिसमें कि हो न अधीर वह।
माना न किन्तु तथापि मा का अश्रुजल।
दो बूँद वह कर ही रहा ..

अथवा—यों प्रश्नपूर्वक निज कथा, निःशेष कर मानो वृथा,
कुन्ती बिना उत्तर लिए निर्गत हुई।
ठहरी न वह, न ठहर सकी, अति कार्य कर मानों थकी,
बाहर अटल थी किंतु भीतर हत हुई ॥

इस प्रकार के प्रसंगों को उपस्थित करने से उद्देश्य को कोई

हानि नहीं होती है, बल्कि उसका कुछ उपकार ही होता है—मनोवेगों की तीव्रता द्वारा उसकी सिद्धि अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है। इसी प्रकार 'जयद्रथवध' मे अर्जुन की जयद्रथवध की प्रतिज्ञा के बाद जब कृष्ण ने उससे पूछा कि 'तुमने प्रण तो बडा दुष्कर किया है, पर अब उसके लिए यत्न क्या सोचा है ?' तो

धनजय ने कहा,

"निश्चय मरेगा कल जयद्रथ, प्राप्त होगी जय मुझे।
हे देव, मेरे यत्न तुम हो, मत दिखाओ भय मुझे।"
कहते हुए यों पार्थ के दो बूँद आँसू गिर पड़े।
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े॥
फिर मौन होकर निज शिविर में वे तुरन्त चले गए।
छलने चले थे भक्त को भगवान आप छले गए॥

इस स्थल मे दिए गए ये मनश्चित्र आगे चलकर अर्जुन के प्रतिज्ञात कर्म को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं और प्रबन्ध की दृष्टि से, वे प्रणनिर्वाह के समय भगवान के कौतुक की एक भूमिका तैयार करके उसमे अधिक स्वाभाविकता भी ला देते हैं।

गुप्तजी के छोटे काव्यों मे हमको 'पंचवटी' बहुत अच्छा मालूम होता है। इसके प्रारंभिक एक तिहाई अश मे शान्त की मन्दगति स्रोतस्विनी बहती है जिसमे प्रहरी लक्ष्मण का मनःप्रवाह छोटी छोटी तरंगों के रूप मे सहयोग देता है और पाठक के मन को भी अपने साथ साथ हलके हलके तेराता है। उसके बाद शूर्पणखा के आ जाने से थोडी देर तक विनोदपूर्ण वार्तालाप चलता है

और फिर, जब राक्षसी निराश होकर अपनी प्रकृति का दर्शन कराती है तो, अद्भुत, भयानक और बीभत्स के साथ, सक्षेप मे, काव्य का कार्य सपन्न हो जाता है। गुप्तजी के रामचरित मे लक्ष्मण जिस महान् उद्देश्य के प्रतिनिधि हैं उसकी प्रतिष्ठा मे उनकी एकान्त की भावधारा, रात्रि की शान्ति, तथा वार्तालाप की विनोदशीलता बडी सफलतापूर्वक सहायक होती है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा और वर्णनशैली भी इतनी मधुर तथा प्रसादयुक्त है कि उसमे वर्णन तथा वर्ण्य का भेद ही नही मालूम होता, भाषा तथा भाव एक हो जाते हैं। विचारो की उदारता, चित्रों की प्रत्यक्षता, मानव जीवन के साथ प्रकृति की प्रतिसवादिता, शवलता मे समंजसता आदि इसके कुछ ऐसे गुण हैं जो इसे गुप्त जी के काव्य-कर्म का एक अति प्रकाशमान् कीर्तिस्तभ बना देते हैं। शुरू शुरू मे लक्ष्मण का परिचय ही एक बडे कौतूहलपूर्ण ढग से आरभ किया गया है—

> पंचवटी की छाया मे है सुन्दर पर्णकुटीर बना।
> उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना॥
> जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है,
> भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥

शान्त, ज्योत्स्नाचर्चित, शुभ्र रात्रि मे लक्ष्मण अकेले कुटी पर पहरा दे रहे हैं। कुटी के भीतर राम और सीता सोए हैं। रात्रि के उस वातावरण मे लक्ष्मण के मन मे तरह तरह की तरगे उठने लगी। कभी पुरानी बातो की याद आती है, कभी वर्तमान जीवन

के सौख्य मे संतोष होता है, कभी सामने के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्धता होती है, कभी तत्त्वनिरूपण होता है, आदि, क्योंकि "कोई पास न रहने पर भी जन मन मौन नही रहता। आप आपकी सुनता है वह, आप आपसे है कहता" पंचवटी के जीवन मे लक्ष्मण के सुख की अनेक सामग्रियाँ है। एक यह भी है--

> आ आकर विचित्र पशुपक्षी यहाँ बिताते दोपहरी।
> भाभी भोजन देतीं उनको पंचवटी छाया गहरी।
> चारु चपल बालक ज्यों मिल कर, मा को घेर खिजाते हैं,
> खेल-खिजा कर भी आर्या को वे सब यहाँ रिझाते हैं।

इतना सोचते ही सोचते सामने गोदावरी पर दृष्टि जा पड़ती है। उस गोदावरी का बहना भी मानों उन तीनों के पंचवटी-जीवन का उत्सव है। गोदावरी शायद जानती है कि रामचन्द्र राजा हैं। वह अपने परिचर्या-भाग को समझ कर राजदरबार की मह-फ़िल उपस्थित करती है—

> गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी।
> चंचल जल कलकल कर मानों तान ले रहा है अब भी।
> नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन से सुमन महकते हैं।
> चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं।

इसी तरह सोचते सोचते और देखते देखते दिन निकलनेवाला हो-गया। ज़रा सी रात्रि शेष थी कि शूर्पणखा एक अति मनोहर रमणीरूप धारण करके लक्ष्मण के सामने आती है और प्रेम-याचना करती है। और अभी इन दोनों का तर्क चलता ही है कि

ऊषागमन होगया और सीता कुटी के द्वार पर प्रकट हुई। सीता और लक्ष्मण का उज्ज्वल विनोद चल ही रहा था कि राम भी आ उपस्थित हुए। लक्ष्मण-शूर्पणखा की भेंट के प्रथम क्षण से ले कर शूर्पणखा की भर्त्सना तक सारा ही वार्तालाप पढ़ने की चीज़ है। उसकी विदग्धता, तर्कपद्धति, छन्दवृत्ति तथा शूर्पणखा की मानसिक असमंजसता का आस्वादन एक दो उदाहरणों से यथावत नहीं हो सकता।

लक्ष्मण की अन्तिम चेतावनी सुनकर तो "झंकृत हुई विषम तारों की तन्त्री सी स्वतंत्र नारी।" और फिर अद्‌भुत और भयानक का एक साथ मेल देखने में आया—

> गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्तों से,
> हिलने लगे उष्ण साँसों से ओंठ लपालप लत्तों से,
> कुन्दकली से दाँत हो गये बढ़ बराह की डाढ़ों से।
>
> × × × ×
>
> जहाँ लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चीर वहाँ।
> हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ।
> कंधों पर के बड़े बाल वे बने अहो! आँतों के जाल।
> फूलों की वह वरमाला भी हुई मुंडमाला सुविशाल॥

तदनन्तर प्रभु का इशारा पाकर लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए, प्राण नहीं लिए। तब—

> और कुरूपा होकर तब वह रुधिर बहाती, बिललाती,
> धूल उड़ाती आँधी ऐसी भगी वहाँ से चिल्लाती।

'साकेत' गुप्त जी का महाकाव्य है और उसका "प्रकाशन वास्तव मे हिंदी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।" महाकाव्य के रूप मे साकेत के अवतीर्ण होने का अर्थ हिन्दी-साहित्य के एक नवीन आवर्तन से है जो जहाँ, एक ओर, इस ग्रंथ के कारण एक अभिनव गौरव का भाजन बना है वही, दूसरी ओर रामचरित के सबंध मे एक नए दृष्टिकोण को आश्रय देकर विचारों के विकास का भी मार्ग खोलता है। तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' द्वारा रामकथा को लेकर जो एक धारणा पद्धति हिन्दूसमाज मे बनी हुई थी उसका निराकरण न करता हुआ भी 'साकेत' उसको एक भिन्न प्रकाश मे देखता है। राम गुप्तजी क भी नायक हैं, 'साकेत' के भी नायक हैं, परतु प्रकट होते हैं वे लक्ष्मण के व्यक्तित्व मे। लोकेश के चिद्रूप का जो स्फुरण है वही लक्ष्मण हैं और सद्रूप मे चित् का निरीक्षण करने वाले राम वास्तव मे एक द्रष्टा हैं। चित् से जो स्फुरण अथवा प्रसारण होता है उसमे क्रियाशीलता देखी जाती है। अत: 'साकेत' मे क्रियाशीलता का विशेष उत्तरदायित्व लक्ष्मण को ही प्राप्त है, जिससे यह भ्रम हो जाना अस्वभाविक नही है कि कदाचित् 'साकेत' के नायक लक्ष्मण ही हैं। 'साकेत' की दूसरी विशेषता इस बात मे है कि राम अवतार होकर भी हम लोगों के बीच मे कुछ मनुष्य ही जैसे अधिक दीखते हैं, क्योंकि उन्होंने इस भूतल को अपना लिया है। उन्होंने कहा है—"सदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।" परंतु 'साकेत' की आध्यात्मिक व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है। केवल हमे यही

देखना है कि महाकाव्य की दृष्टि से किन किन तत्वो ने, मोटे रूप से, इसमे कैसा विकास हासिल किया है—

प्रबधकाव्य के साधनभूत जो जो अग हैं वे महाकाव्य मे अपने पूर्ण साफल्य को प्राप्त होते हैं। कवि के पास कार्य-क्षेत्र की इतनी विशालता रहती है कि अपने जिन हाथ-पैरों को वह अन्य तंग स्थानों मे सिकोड कर रखता है या बहुत ही सकुचित रूप से प्रसारित करता है उन्हे यहाँ वह उन्मुक्त कर सकता है। उसकी दृष्टि भी ज्यादा दूर तक जाती है और वह खुलासा तौर पर साँस भी लेता है। महाकाव्य का महाकाव्यत्व इसी मे है कि एक प्रधान भाव के अधीन रख कर कवि दूसरे जितने भी भावों को, जितनी भी परिस्थितियों में देख सकता है उतनो को देखने की वह चेष्टा करता है। महाकाव्य का आनन्द सर्वांगपूर्ण होता है और साथ ही अनुभूति की पूर्णता से भी युक्त होता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रख कर प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के बडे व्यापक लक्षण बताए हैं। वर्तमान समय मे उनका उपयोग जीवन की व्यापकता के सन्देशमात्र के रूप मे ही किया जा सकता है—यह आवश्यक नही कि उन लक्षणो में परिगणित प्रत्येक तथ्य का भी अनुसरण किया ही जाय। प्राचीनकाल मे जीवन क्षेत्र का जो विस्तार था अब शायद वह उससे अधिक है और कवि को इस बात के निर्णय की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह उस विस्तार के किन आवश्यक अंगों का उपयोग करके उसकी व्यंजना हमारे सामने उपस्थित करता है।

आजकल की बोली मे, जो वास्तव मे पुरानी बोली से ज्यादा भिन्न नही है, काव्य मे जीवन के विस्तार को दिखाने के साधन परिस्थितियों की बहुरूपता और तत्संबंधी मनोविज्ञान है। पुरानी बोली मे हम इन्हीं को आलंबन विभाव, संचारी तथा अनुभाव कहते हैं। परन्तु इसके संबंध मे एक बात ध्यान मे रखने की है कि इन सब साधनो का सार्थक्य पात्र के उद्देश्य और उसकी अनुरूपता से ही होता है। केशवदास अपने पात्रों को भूल जाते है इसलिए उनके काव्य की परिस्थितियाँ वस्तुत उनके प्रबंध-काव्य का अंग नहीं रह जाती। वर्तमान समय की परिभाषा मे जिसे चरित्र चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व कहा जाता है वह आलंबनमूल इन्ही भावानुभावों के समाहार का अधिक व्यापक अभिधान है। एकोद्दिष्टता, अर्थात् स्थायी भाव के नैरन्तर्य, की दृष्टि से कथा-संबंध का निर्वाह भी चरित्रचित्रण के सुन्दर रूप के लिए आवश्यक हो जाता है।

चरित्रचित्रण के दो श्रेष्ठ साधन है—क्रिया-व्यापार और पात्रों की उक्तियाँ। इन्हीं दोनों से सचारियों के मार्ग द्वारा स्थायी की पुष्टि होती है।

गुप्तजी के कथा-संबंध अथवा प्रबंध-निर्वाह के बारे मे हम यह कह सकते हैं कि वह उनके महाकाव्य मे (तथा खड-काव्यों मे भी) साधारणतया ठीक है तथा उसमे अग्रसरता की सामर्थ्य है। परन्तु यह अग्रसरता प्रायः घटनाओं की शक्ति से होती है, चरित्र की शक्ति से उतनी नहीं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से

गुप्तजी के पात्र उनके महाकाव्य मे (कहीं-कहीं खंडकाव्यों में भी), अनेक संचारियों का प्रदर्शन करते हुए भी, अपरिवर्तनशील, है। वे एक स्पष्ट उद्देश्य, आदर्श, सिद्धान्त का पालन मात्र हैं। परन्तु महाकाव्यान्तर्गत सात्त्विकों और सचारियो मे यह खूबी है कि वे उन पात्रों की अविकसनशील दशा का भान नहीं होने देते और अपनी-अपनी बारी पर पाठक को अपने मे सराबोर कर लेते हैं। पात्रों के चरित्र-तथ्य के उद्घाटन मे उनके सचारियों ने पूर्ण सहानुभूति और सहृदयता के साथ काम किया है। चित्र के प्रसंग को लेकर उर्मिला और लक्ष्मण के बीच जो उत्सुकता-पूर्ण हास-विलास दिखाया गया है वह बड़ा ही हृदयोल्लासी है। वह कथनोपकथन के रूप मे है और उसमें प्रयुक्त वाग्वैदग्ध्य सहज वृत्ति की दृष्टि से तो सात्त्विकों, और प्रसंग के तकाजे से संचारियों, का बड़ा मुग्धकर चित्र बन जाता है। परिस्थिति-वर्णन में, वनगमन की तैयारी के समय, सीता, उर्मिला, लक्ष्मण, सुमित्रा और 'राव' के सचारियों की व्यंजना तथा अनुभावों का प्रदर्शन कवि ने बहुत थोड़े से शब्दों मे, परन्तु भरपूर प्रभाव के साथ, किस खूबसूरती से किया है सो नीचे की पंक्तियों में देखने लायक है—

सीता और न बोल सकीं, गद्गद कंठ न खोल सकीं।
इधर उर्मिला मुग्ध गिरी, कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी॥
लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये, सबने दो दो बूँद दिये।
कहा सुमित्रा ने 'बेटी, आज मही पर तू लेटी।'

भावुकता का भंडार गुप्तजी को मिला है वह उन्हें सर्वत्र ही उद्‌गारों को प्रकट करने के लिए सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ दे देता है।

गुप्तजी की इस सफलता का भावुकता के अतिरिक्त उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि को भी श्रेय मिलता है। हम गुप्तजी को व्यावहारिक मनोविज्ञान का शास्त्री कह सकते हैं। यद्यपि विकासहीन पात्रों मे चरित्रचित्रण की गुंजाइश कम, या नही, होती है तथापि उपपरिस्थितियाँ पैदा करके उनसे भावशवलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्मनिरीक्षण की ही प्रवृत्ति का द्योतक है। दशरथ जब कैकेयी को क्रोध मे पड़ी देखते है उस समय का वर्णन नीचे दिया जाता है—

पड़ी थी बिजली-सी विकराल, लपेटे थे घन-जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप॥
किन्तु क्या करते, धीरज धार, बैठ पृथ्वी पर पहली बार।
बोले भूपाल॥

इसमे संदेह नहीं कि दशरथ उस समय पहली ही बार पृथ्वी पर बैठे होंगे, परन्तु कथा-संबंध की दृष्टि से यह बात साधारण सी ही कही जाएगी जिसका उल्लेख न भी होने से कोई हानि नही थी। तथापि कवि स्थिति-चित्रण, राजा के मनोभाव तथा उनका पृथ्वी पर बैठना, इन सब बातों की आनुक्रमिक परंपरा उपस्थित कर दो शब्द—"पहली बार"—को अति भाववाही बना देता है। मानसिक विप्लव के सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण उस समय भी देखा

जा सकता है जब कि लक्ष्मण कैकेयी के वरों की बात जान कर और उस पर क्रोध कर चुकने पर अपने पिता की ओर ध्यान देते हैं। पर वे केवल कहते हैं—"पिता हैं वे हमारे या-–कहूँ क्या !" इस "कहूँ क्या" में क्रोध और ग्लानि के साथ साथ मर्यादा का अवशेष भी कैसा मिला हुआ है सो देखना चाहिए। नहीं तो जो लक्ष्मण अभी अभी कैकेयी से तरह तरह के अकथनीय कह चुके हैं वे अपने पिता के लिए भी कह सकते थे—"पिता हैं वे हमारे या कि अरि हैं" या ऐसा ही कुछ और।

विकास तथा यथार्थ अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि से 'साकेत' में कैकेयी का चरित्र-चित्रण श्रेष्ठ है, इसलिए कि वह किसी आदर्श की प्रतिमा नहीं है। विशेष रूप से उसका वह अन्तर्द्वन्द्व जो मंथरा के चिनगारी छोड़ जाने के बाद चलता है हमारे हिंदी साहित्य में एक बहुत बड़े गौरव की वस्तु है। इस द्वन्द्व के वस्तुत्व और क्रमिक उत्थान की टेक आती है मंथरा के इन शब्दों पर—"भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह" जो कैकेयी की शुद्ध भावनाओं अथवा समाधानों के बीच में बार बार गूँज उठते हैं और अन्त में उसे इस निश्चय पर पहुँचाते हैं—"नहीं है कैकेयी निर्बोध, पुत्र का भूले जो प्रतिशोध।"

चरित्रचित्रण का एक अति सुष्ठु साधन पात्रों का कथोपकथन भी होता है। गुप्तजी इसमें भी बड़े पटु हैं। इनकी, कथोपकथन कराने की अद्भुत प्रतिभा तो महाकाव्य में ही नहीं, खंडकाव्यों तक में देखी जाती है। 'पचवटी' के कथोपकथनों का ज़िक्र किया जा चुका

है। दूसरे खंडकाव्यों मे भी कम-बेश यह बात मौजूद है। 'साकेत' से एक उदाहरण देते हैं। सुबह होने पर उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन का प्रसंग है

उर्मिला बोली "अजी तुम जग गए। स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गए?"
"मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ, जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं", "प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं।"
"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए, योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए?"
" प्यारी तुम्हारी योग्यता के पास हूँ। किंतु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"
"दास बनने का बहाना किस लिए, क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो, और देवी ही मुझे रक्खो, अहो।"
"तुम रहो मेरी हृदयदेवी सदा, मैं तुम्हारा हूँ प्रणयसेवी सदा।
.. किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी, है तुम्हारे पादपद्मों मे पड़ी।"
" अवश अबला हूँ न मैं, कुछ भी करो, किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो।"
"साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये, देख कर ही विष चढ़े जिनका अये।
अमृत भी पल्लवपुटो में है भरा, विरस मन को भी बना दे जो हरा।"
" तदपि तुम -यह कीर क्या कहने चला? कह अरे, क्या चाहिए तुझको भला"
"जनकपुर की राजकुज विहारिका, एक सुकुमारी सलोनी सारिका।"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे, उर्मिला के नेत्र खंजन से फँसे।
"तोड़ना होगा धनुष उसके लिए"। "तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये।
तनु, टूटे का भला क्या तोड़ना। कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।
होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे, जन्म मिथिला या अयोध्या मे धरे।"

" .और भी तुमने किया है कुछ कभी, या कि गुर्गे ही पढ़ाए हैं अभी ?"
"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही।"

इस उदाहरण से प्रतीत होगा कि कथोपकथन की समीचीनता के लिए वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्दवृत्ति, तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का कवि ने कितना सुन्दर उपयोग किया है। ये सभी तत्त्व थोड़ी बहुत मात्रा में गुप्तजी के खण्डकाव्यों के कथोपकथनों में भी देखे जाते हैं। जीवन की व्यापकता के संबंध से 'साकेत' में बहुत सी अवस्थाओं के चित्र या प्रसंग आए हैं जो अपने अपने स्थान पर पात्रों तथा परिस्थितियों के औचित्य के कारण प्रभावोत्पादक हुए हैं। प्रकृतिचित्रण तथा मानवीय चित्रण भी गुप्तजी ने अच्छे किए हैं जिनके उदाहरण अब तक दिए गए उदाहरणों में ही मिल जाएँगे।

इनके अलङ्कार-प्रयोगों के बारे में यह कहना है कि वे भावों के सहयोगी हैं। उनमें कृत्रिमता और प्रयास दिखाई नहीं देते। कहीं कहीं तो कल्पना की नूतनता भी बड़ी चमत्कारी है, जैसे नीचे के पहले उदाहरण में—

(क) चले फिर रघुवर मा से मिलने, बढ़ाया घन सा प्राणानिल ने।
चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे।

(ख) पृथ्वी की मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर।
स्वर्गंगा उसमें उतर डूबी अंबर बोर॥

(ग) यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,
स्वर्गकंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।

सह न सकी भय ताप अचानक गल गईं,

हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी। (गंगा वर्णन)

गुप्त जी की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है यद्यपि कहीं कहीं, बहुत कम, ऐसे शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है जो खड़ी बोली में व्यवहृत नहीं होते, जैसे 'हूजो', 'अँखियो' आदि। शब्दसंबंधी स्वतन्त्रता और भी एक दो रूपों में देखने में आती है जैसे संज्ञा की क्रिया बना लेना ('प्रमाणी') या छंद की आवश्यकता के लिए कहीं मात्रा कम कर देना ('सुरझ गया') या विशेषण में लिंग वचन का चिह्न लगा देना ('भरिताएँ') परन्तु इस तरह की स्वतंत्रताओं का भी बहुत ही कम उपयोग किया गया है। भाषा में प्रसाद है। 'पञ्चवटी' में तो प्रसाद जैसे मूर्तिमान ही हो गया हो। बहुत कम स्थानों पर संस्कृत के ढँग की समस्त पदावली भी देखने को मिलती है। संस्कृत के ही ढँग से, गुप्त जी की कुछ कुछ प्रवृत्ति संयुक्ताक्षरों के पहले वर्णों को दीर्घवत् पढ़ने की सी भी मालूम होती है। भाषा में कहीं कहीं भावों के अनुसार ध्वनि उत्पन्न करने की रुचि भी दृष्टिगत होती है, यथा "झाक न झंझा के झोंके में झुक कर खुले झरोखे से।"

गुप्त जी के काव्य और उसकी प्रेरक मूल शक्तियों के इतने दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है, जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, कि उनकी ईश्वर, जाति तथा राष्ट्र से संबंध रखने वाली भावनाओं तथा उनकी कविताओं का घनिष्ठ पारस्परिक संबंध है। वे एक दूसरी से अलग, स्वतंत्र, नहीं है बल्कि प्रत्येक एक

दूसरी को बल प्रदान करने वाली है। इसीलिए गुप्त जी में हम न तो, एक ओर, उनके ईश्वर की किसी सकीर्णता को ही देखते हैं और न, दूसरी ओर, किसी एकदम लोक-मर्यादा विरुद्ध नवीन अथवा क्रान्तिकारी मार्ग की उनकी अनुसंधान-चेष्टा को ही। प्रत्येक बात की मर्यादा पर दृष्टि रखते हुए गुप्त जी ने उसका वर्तमान परिस्थितियों से सामंजस्य अवश्य स्थापित किया है और देश की वेदना को, उसकी पुकार को, अपने लोकप्रिय काव्य द्वारा जनता तक पहुँचाने का अवश्य प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से यदि हम इनको राष्ट्र तथा जाति के नेताओं में भी स्थान दें तो क्या अनुचित होगा? प्रत्येक नेता या पथप्रदर्शक का तरीका एक नहीं होता। गुप्तजी की वाणी में प्लेटफार्म पर बोलने वाले नेताओं की वाणी की अपेक्षा अधिक असर है, अधिक पायदारी है। उन्होंने भारत-वर्ष के, अगली-पिछली कम से कम चार-पाँच दशाब्दियों तक के, जीवन-द्वन्द्व तथा उसके अन्तस्तल के विकल स्पन्दनों की व्यंजना व अभिव्यक्ति अपने प्रवाही, आप्लावी रागों द्वारा गा गा कर की है। उनको जो आजकल का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है सो बिलकुल न्याय्य है।

बाबू जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशकर प्रसाद बनारस के रहने वाले थे तथा वहाँ के प्रसिद्ध बाबू देवीप्रसाद सुँघनीसाहु, जरदे के व्यापारी, के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९४६ मे माघ शुक्ला १२ को हुआ। हिंदी साहित्य के दुर्भाग्य से इन्हे अधिक आयु प्राप्त नहीं हुई। अभी, लगभग ढाई वर्ष पहले, इन्होंने क्षय से पीडित हो कर सैतालीस-अडतालीस वर्ष की आयु मे इस ससार से प्रयाण कर लिया।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा अधिक नहीं थी। अल्पायु मे ही अपने पिता, तथा कुछ वर्ष बाद, बड़े भाई को खो कर व्यापार का बोझ इन्हे सँभालना पड गया। परतु संस्कृति की ओर इनकी रुचि पहले से ही थी। अतः घर पर रहते हुए ही इन्होने स्वाध्याय द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन आदि का खूब ज्ञान-संग्रह किया। बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध संस्कृति से इन्हे विशेष रुचि मालूम होती थी। उसका इनकी भावधारा तथा विचारधारा पर प्रभाव भी पड़ा था। इनकी रचनाओं मे, विशेषतः नाटकों मे उसकी झलक अच्छी तरह देखने मे आती है।

प्रसाद जी ने अपनी काव्य-रचना बहुत पहले, बाल्योत्तर अव-स्था के बाद से ही, आरंभ कर दी थी। उस समय के इनके लिखे

हुए दो-एक छोटे-छोटे नाटक 'सज्जन' आदि, तथा कुछ फुटकर काव्य मिलते हैं। यह भी कहा जाता है कि इनकी कई एक प्रारंभिक रचनाएँ अप्राप्य या दुष्प्राप्य भी हो गई हैं। इनकी पहले की कविता व्रजभाषा में है तथा नाटकों में भी पुरानी रचना-प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है जिसका रूप भारतेंदु ने प्रतिष्ठित किया था। उनमें खड़ी बोली की बात-चीत के बीच में व्रजभाषा का पद्य देकर संस्कृत नाटकों की अनुसृति पर प्रसंगानुकूल किसी प्राकृतिक दृश्य को लेकर सिद्धान्तनिरूपण किया गया है। प्रसाद जी की पुरानी व्रज-भाषा कविता का एक उदाहरण जिसमें खड़ी बोली का भी पुट आगया है यहाँ दर्शनीय है—

पुलक उठे हैं रोम रोम खड़े स्वागत कों,
जागत हैं नैन बरुनी पै छबि छाओ तो,
मूरति तिहारी उर अन्तर खड़ी है, तुम्हें
देखिबे के हेतु, ताहि मुख दरसाओ तो
भरिकै उछाह सों उठे हैं भुज भेंटिबे को,
भेंटिबो को ताप क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो,
हिय हरखाओ, प्रेम-रस बरसाओ, आओ,
बेगि प्रान प्यारे! नेक कंठ सों लगाओ तो।

बौद्धदर्शन के प्रभाव से 'प्रसाद' की भावप्रणाली में नियतिवाद तथा निराशावाद की प्रतिष्ठा भित्तिरूप में हो जाती है। इस निराशा का उद्गम अपने प्रथम सोपान में यौवन का पिपासा और उसकी अतृप्ति से होता है। यौवन-पिपासा का रूप भावुक

प्रेम है और अतृप्ति का परिणाम करुणा है। 'प्रसाद' की फुटकर रचनाओं में क्रमगति से प्रस्फुटित इस पिपासाजन्य अतृप्ति और करुणा का स्पष्ट और विशद रूप हमें उनकी प्रबंध-रचनाओं (नाटक, कहानी, उपन्यास और महाकाव्य) के स्त्री-पात्रों में अच्छी तरह देखने को मिलता है। यहाँ हम उसके विकसित उज्ज्वल रूप को भी देख लेते हैं जिसे यदि हम चाहें तो विकास पद्धति का दूसरा-तीसरा सोपान भी कह सकते हैं। अपने उज्ज्वल रूप में यौवन-पिपासा का भावुक प्रेम करुणा की विशालता को प्राप्त कर त्याग, आत्मदान, समर्पण और निग्रह का स्वरूप बन जाता है, करुणा साधना बन कर साम्यभाव, सेवा आदि का रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु जो प्रेम और अतृप्ति वासनामय है उसका समर्थन 'प्रसाद' जी नहीं करते। उस वासना का क्षय होना जरूरी है। वासनापूर्ण प्रेम की अवस्था में भी, वासना का क्षय होने के बाद, पिपासु करुणा के ऊँचे स्वरूप का साधक बन कर मानव-समाज या विश्व के साथ अपने उद्देश्य का ऐकात्म्य स्थापित करता है।

साधना के इस पवित्र रूप में प्रथम निराशा पर प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया एक नई आशा का संदेश है, शान्ति जिसके साथ साथ फिरती है और मिलन, अथवा मिलन की कल्पना, जिसका स्वाभाविक उपलक्ष्य हो जाती है। यह मिलन एक भिन्न प्रकार का मिलन है, स्थूल संसर्ग की भावना से कोसों दूर, और वह सामर्थ्य तथा साहस का सचय करके लोक-कल्याण का अग्रदूत बनता है।

'प्रसाद' जी ईश्वर और संसार दोनों को मानते हैं। संसार उनके लिए मिथ्या नहीं है, अन्यथा करुणा और साधना का वह रूप संभव नहीं, जो ऊपर बताया गया है। करुणा के इस रूप के कारण ही शायद उनकी ईश्वरीय धारणा भी शिवरूप की मालूम होती है जैसा कि हमे 'कामायनी' ('प्रसाद' जी का महाकाव्य) से पता चलता है। कहीं कहीं हम 'प्रसाद' के ईश्वर को प्रकृति मे प्रतिबिंबित होते हुए भी देखते है, जैसा कि रहस्यवाद की भावना मे देखा जाता है।

यथा—सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरंद सा अनूप है,
मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।

अथवा—उषा सौंदर्यमयी मधु कांति, अरुण-यौवन का उदय विशेष!
सहज-सुषमा मदिरा से मत्त, अहा कैसा नैसर्गिक वेश!
देखकर जिसे एक ही बार, होगए हम भी हैं अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त!
दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—सृष्टि ने मधु धारा में स्नान।
बह चली मन्दाकिनी मरन्द-भरी करती कोमल कल गान।

अब 'प्रसाद' जी की प्रेमपद्धति के भी दो-चार उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। प्रेम किस तरह चुपके से हृदय-देश में प्रवेश कर अपना परिचय कराता तथा पिपासा को उद्दीप्त करता है सो इन उदाहरणों मे देखा जा सकता है—

(क) हृदय गुफा थी शून्य, रहा घोर सूना।
इसे बसाऊँ शीघ्र, बढ़ा मन दूना॥
अतिथि आगया एक, नहीं पहचाना।
हुए नहीं पद-शब्द, न मैंने जाना॥
हुआ बड़ा आनन्द, बसा घर मेरा।
मन को मिला विनोद, कर लिया घेरा॥
उसको कहते "प्रेम" अरे अब जाना।
लगे कठिन नखरेख, तभी पहचाना॥

(ख) मेरी आँखों की पुतली में, तू बन कर प्रान समाजा रे!
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो, मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—वह जीवन-गीत सुना जा रे!
खिंच जाय अधर पर वह रेखा—जिसमें अंकित हो मधु-लेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे!

फिर, प्रेम का स्वरूप जानने के बाद, उससे पिपासा की दीप्ति होने पर, अतृप्ति का भी रूप बनने लगता है—

भरा जी तुमको पाकर भी न, होगया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार, सिन्धु सा तैर गया उस पार।
न हो जब मुझको ही संतोष, तुम्हारा इसमें क्या है दोष?

अतृप्ति से विरह में वेदना होती है। 'प्रसाद' की कविता में उसने तीव्र रूप धारण कर लिया है, यथा—

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती;
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती।

क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में,
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

तथा फिर—

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से।
धुल-धुल कर बह रह जाते, आँसू करुणा के कण से॥

पर 'प्रसाद' की विरह-वेदना आत्महत्या करने वाली नहीं है। वह निरुद्देश्य, निष्क्रिय नहीं होती। उसकी प्रतीक्षा और आशा चलती ही रहती है—

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग-जल से सानंद, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज॥
नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानंद।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा मकरंद॥
मूक हो मतवाली ममता, खिलें फूलों से विश्व अनंत।
चेतना बने अधीर मिलिंद, आह, वह आवे विमल वसंत॥

'मतवाली ममता' को मूक कर देने की प्रवृत्ति में जहाँ एक ओर विरह की तीव्रता तथा असहायता का विलीयमान स्वर है वहीं, अपने दूसरे रूप में, वह हमें आगे आने वाली उस सक्रिय वृत्ति के लिए तैयार करती है जो निराशा में संतोष लाकर विरह को लोक-कल्याण का साधन बनाती चलती है। वियोग और मिलन की समरसता की पहली पद्धति के आरंभ में कवि पूछता है—

वाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुछ न कहा जाता,
गद्गद् कंठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता,
जीवनधन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ मत मौन रहो,
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो ?

इसके आगे प्रेम और विरह की विशालता का रूप प्रतिष्ठित होता है और कवि पूछना छोड़ कर उद्बोधन के साथ निष्कर्ष कथन करता है—

आँसू-वर्षा से सिंचकर दोनों ही कूल हरा हो,
उस शरद-प्रसन्न-नदी में जीवन-द्रव अमल भरा हो।
हैं पड़ी हुई मुँह ढककर मन की जितनी पीड़ाएँ,
वे हँसने लगें सुमन सी करती कोमल क्रीड़ाएँ।
जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे।
निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।

प्रेम और विरह-वेदना के इस करुणामय आवर्तन के लिए, जिसमें करुणा अन्त में अपने लिए न रह कर दूसरों के लिए निखर जाती है, स्त्री का कोमल हृदय अथवा प्रकृति का विशाल वक्ष ही समुचित आधारस्थल है। पुरुष में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहती है। पुरुष कठोर होता है, वह जीवन के कठोर कर्मों के लिए बना है, प्रेम का व्यापक स्वरूप उसमें प्रतिफलित होने की गुंजाइश कम है और, जहाँ वह संकीर्ण हृदय नहीं है वहाँ उसमें चरित्र का

मंगलाधार एक व्यापक कर्तव्यबुद्धि है—व्यक्तिगत प्रेमलालसा की सुदूर परिणति नहीं। 'प्रसाद' की प्रबन्ध-रचनाओं में हम अधिकतर इसी बात को देखते हैं, उनके स्त्रीपात्रों में ही प्रेम का लोक-करुणामय रूप विशेषतया विकसित होता है। फुटकर पद्यों में विकास का स्थान नहीं होता। इसीलिए प्रेमलालसा से लगाकर करुणा के सन्देश तक सारी पद्धतियाँ किसी एक पद में मिलना कठिन है और इसीलिए शायद, हम कवि को स्फुट पद्यों में स्त्री की भाँति बोलता हुआ भी नहीं पाते।

परन्तु साथ ही हम उसे किसी प्रेय स्त्री को भी संबोधित करता हुआ प्रायः नहीं पाते, यद्यपि प्रेमी पुरुष की भी परिस्थिति 'प्रसाद' की भावना से बहिर्गत नहीं हैं। प्रेय को सामान्यलिंग मानने की शायद एक परिपाटी भी है जो उर्दू शायरी में अथवा रहस्यवादी रचनाओं में प्रधान रूप से देखने में आती है। पर, यह भी ध्यान रखने की बात है कि भारतीय विचार-परंपरा में प्रेम की प्रथम प्रेरणा स्त्री की ओर से ही होनी है। यह बात 'प्रसाद' की प्रबंध रचनाओं में भी देखने में आती है। अतः 'प्रसाद' के स्फुट पद्यों में जहाँ भौतिक प्रेम का आधार है वहाँ, बोलनेवाला और सुनने-वाला पुरुष होते हुए भी, प्रसाद का आदर्श उनके प्रबन्धों के स्त्री पात्रों को ही मानना कदाचित् अधिक ठीक होगा। स्फुट पद्यों में की अवस्थाओं की व्यंजना के लिए कवि ने अधिकतर प्रकृति का सहारा लिया है और कहीं कहीं इस व्यंजना द्वारा एक काफ़ी लंबी चरित्र कथा भी कह दी है। यथा—

कितने दिन जीवन जल निधि में—

विकल अनिल से प्रेरित होकर लहरी, कूल चूमने चलकर

उठती गिरती-सी रुक रुक कर सृजन करेगी छवि गति-विधि में !

कितनी मधु संगीत निनादित गाथाएँ निज ले चिर-संचित

तरल तान गावेगी वंचित ! पागल-सी इस पथ निरवधि में !

दिनकर हिमकर तारा के दल इसके मुकुर वक्ष में निर्मल

चित्र बनायेंगे निज चंचल ! आशा की माधुरी अवधि में !

इसी प्रकार—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता ?

खोल रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता ॥

किसी हृदय का यह विषाद है, छोड़ो मत यह सुख का कण है ।

उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि 'प्रसाद' की विचार धारा में ईश्वर और संसार दोनों का अस्तित्व है। संसार में प्रेम (और कर्म प्रवाह) के नाते से नारी और पुरुष का निरन्तर द्वन्द है, जिसकी प्रतिक्रिया में सुख-दुःखों का द्वन्द्व भी (आशा और निराशा, वेदना और सान्त्वना का रूप बनकर) वेगशील हो जाता है। प्रसाद ने इन द्वन्द्वों के बारे में कहा है—

"द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र ।

डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन ।"

द्वंद्वों की इस सत्ता में स्त्री और पुरुष का अपना अपना अलग विधान है जिस में पुरुष का स्वार्थ और पुरुषत्व-मद—अधिकार-

भावना—उसे स्त्री से एकदम दूसरे सिरे पर रख देता है। परन्तु फिर भी दोनों मे आकर्षण होता है, स्त्री खीचती भी है और खिंचती भी है—खिचती अधिक है, पर पुरुष खिंचता हुआ भी अपने पुरुषत्व और मोह के कारण सुखी नहीं हो पाता—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है संबध बनी अधिकार और अधिकारी की।
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया।"

इस परिस्थिति मे 'प्रसाद' जी प्रेमी पुरुष को बतलाते हैं कि—

"पागल रे! वह (अर्थात् प्रेम) मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।
तू क्यों फिर उठता है पुकार? मुझ को न मिला रे कभी प्यार!"

यह स्थिति दान, आत्मदान, की है और ऊपर बताई गई स्त्री की विश्व-करुणा से भिन्न है—इसमे पुरुष की स्वार्थप्रवृत्ति के कारण ममत्व का एकान्त लोप न कराकर उस ममत्व को ही ऊँचा उठाने का उपदेश किया गया है। इसे हम प्रेम की पूर्वकथित व्यापक परिणति का उपदर्शनमात्र कह सकते हैं। पुरुष के प्रेम की दृष्टि से एक दूसरे प्रकार का उपदर्शन भी हमको वहाँ प्राप्त होता है जहाँ संसार की निराशाओं और वेदनाओं को संसार मे ही छोड कर कवि किसी अलौकिक सुखलोक की कामना करता है, जिसमे यदि ईश्वर के सान्निध्य का भी संदेह कर लिया जाय तो बुद्धि का अत्याचार न होगा। जैसे नीचे के गीत मे—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे ।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे !
जहाँ साँझ सी जीवन छाया, ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो ताराओं की पाँति घनी रे ।
जिस गंभीर मधुर छाया में, विश्व चित्र पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई, दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे ।
श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे !

प्रसाद की विचारधारा के इन मूल तथ्यों को ग्रहण कर लेने के बाद हमको यह जान लेने में भी आश्चर्य न होगा कि प्रेम के द्वारा सचित उनकी लोकभावना अपने विस्तार को प्राप्त होकर स्थान स्थान पर सामाजिकता और राष्ट्रीयता के उद्देश्यों को भी भली भाँति प्रदर्शित करती है । उनके ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषत 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' मे, ये उद्देश्य अपने खूब विशद रूप में प्रस्फुटित हुए हैं । पर कहीं कहीं अपने काव्य मे भी 'प्रसाद' ने इनकी अच्छी झलक दिखाई है । भारत में की जाती हुई वर्तमान शोषण-नीति और यहाँ प्रसार कराई गई कृत्रिम सभ्यता से उत्पन्न मानसिक अधोवृत्ति का 'कामायनी' मे ओजपूर्ण परंतु यथातथ्य, वर्णन किया गया है । अपने भोग और ऐश्वर्यमद मे भूले हुए मनु की प्रजा उनके मिथ्या समाधानों के उत्तर मे विद्रोही बन कर उनको इस प्रकार प्रत्याहूत करती है—

"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से !
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदन-शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख !
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी !
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसीलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है ?
आज बन्दिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है ?
ओ मायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?"

मनु के जिन शब्दों के उत्तर मे यह ललकार दी गई है वे भी वैसे ही हैं जैसे कि पिछले जंगली (?) भारत पर अहसान करने वाले लोगों द्वारा प्रायः कहे जाया करते हैं, यथा—

"तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया,
मैंने ही श्रम भाग* किया फिर वर्ग बनाया।
अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं !
आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी !"

* वर्णव्यवस्था या, आजकल के अर्थविज्ञान की परिभाषा में Division of Labour.

यहाँ तक हमने 'प्रसाद' की विचारधारा के स्थूल रूप का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। प्रसाद के विचारो मे दार्शनिकता, गंभीर तत्व-चिन्ता, का प्राधान्य है। उसमे हमे उनके आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। परन्तु ऊपर के अनेक उदाहरणों से हमे यह भी पता चलता है कि विचार सिद्धान्त के साथ-साथ भाव भी उतने ही वेग से चलते हैं। 'प्रसाद' के कविकर्म में हमें यह बड़ी भारी बात मिलती है, जो प्राय अधिकाश कवियो मे कठिनता से ही उपलब्ध होती है, कि इनमे विचार और भाव दोनों समान रूप से प्रधान होते हुए एक ऐसी भूमि पर आपस मे मिलते हैं जहाँ वे एक हो जाते हैं, उनका भेद दूर हो जाता है। ऊपर कितने ही उदाहरणों मे यह बात देखी जा सकती है। अथवा, निर्दिष्ट रूप से, 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' या 'कितने दिन जीवन जलनिधि मे' या 'आँसू वर्षा से खिंचकर' आदि कविताओ में, हम देख सकते हैं कि, विचार और भाव को अलग अलग कर देना एक दुष्कर कार्य है। तथापि, इन सब मे अवश्य एक गहरी भावुकता है, और साथ ही एक सुनिश्चित सिद्धान्त भी। सिद्धान्त के रूप मे आदर्शवाद और भाव के रूप में यथार्थवाद का इनमे मनोहर सम्मिलन है।

'प्रसाद' की यह विशेषता, वास्तव में, उनकी पद्धति की विशेषता है। भाव मे उद्देश्य ढूँढना तथा उद्देश्य मे भाव ढूँढना इस कवि की विशेष रुचि मालूम होता है। विचार और भाव को एक सूत्र मे जोड़ने की विशेष साधन बनती है प्रकृति। प्रकृति अपने मनोमोहक रतिरूप में खड़ी होकर जैसे एक इंगित सा करती हो

जो जीवन को किसी निश्चित दिशा मे ले जाने की, अथवा जीवन के अभिप्राय को चित्र द्वारा दिखाने की, ससूचना देता है। यह प्रवृत्ति छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रवृत्ति है।

छायावाद प्रकृति मे मनुष्य का, मानवजीवन का प्रतिबिंब देखता है। रहस्यवाद समस्त सृष्टि मे ईश्वर का। रहस्यवाद मे 'प्रतिबिंब' कहना शायद उचित नही है—'रहस्य' और 'छाया' शब्दों के भेद के कारण। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त का, ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है। जब वह हमारे भावों को ठेस देता है तो हम उसे प्रकृति मे ढूँढने की कोशिश करते है।

जिस प्रकार से रहस्यवादियों के दो वर्ग होते हैं *—विचारक और कवि—उसी तरह छायावादियों के भी होते है। अन्योक्ति कह कर उपदेश देने वाले भी छायावादी ही होते हैं परन्तु उनमे कवित्व विशेष नहीं होता, जैसे दीनदयाल गिरि। जयशंकर 'प्रसाद' कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वे बाह्य परिस्थितियों की भावुकता से बहुत गहरे उतर कर परिस्थितियों के सचालक, अथवा उनसे सचालित, जीवन-रहस्यों से उद्वेलित होते हैं और प्रकृति को दर्पण अथवा प्रतिभासक यंत्र (Reflector) बना कर, अतिरिक्त प्रकाश का संग्रह करने की पद्धति से, अथवा उस प्रकाश को केन्द्रीभूत करने की पद्धति से, अपनी भावुकता का उन्मेष करते हैं। भावुकता-प्रधान

* देखिए 'कबीर और 'जायसी'

इस आधुनिक ढंग के छायावाद तथा रहस्यवाद के वे हिन्दी में सर्गकर्ता समझे जाते हैं। इस समझने में कोई बड़ी अतिरंजन नहीं है।

छायावाद के इस आधुनिक रूप में भावना का अतिरेक इतना अधिक है कि वस्तु और उसकी दर्पणगत छाया एक होते होते वह अवस्था पैदा कर देती है जिसमें कि छाया ही फिर बाद में मुख्य बन जाती है। दर्पण के सामने बैठा हुआ व्यक्ति दर्पण में अपनी कांति को देखता-देखता इतना मुग्ध हो जाता है कि वह उस छाया-कांति में ही स्वविषयक भावुकता का आरोप करने लगता है। इस आरोपक्रिया में प्रकृत और अप्रकृत का विपर्यय भी प्रायः हो जाना स्वाभाविक है, जिससे अमूर्त और निर्जीव में मूर्ति और जीव का निवास होने लगता है। जड़ में सजीवता लाने से ही अमूर्त में मूर्ति का आरोप होता है, क्यों कि जड़ में जो सजीव के गुण आदि प्रविष्ट हो जाते हैं वे स्वयं अमूर्त होते हुए भी, सजीवता के निर्वाह के लिए, मूर्त्त क्रिया आदि का आश्रय बन जाते हैं। इस प्रकार 'नाव' को 'पगली' कह दिया जाता है, 'लहरें व्योम चूम उठती' हैं, 'चेतना ...बिलखाती' है (कामायनी, पृष्ठ १६-१७)। अथवा एक दूसरा उदाहरण देखें—

जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार बार जाती सोने।

इस पंक्ति में लहरियों में सोकर उठने के आलस्य रूपी सजीव गुण का अँगड़ाई शब्द द्वारा आरोप किया गया है, फिर साथ ही साथ उस गुण (अमूर्त आलस्य) में मूर्त अनुभाव-क्रिया 'अँगड़ाई

लेने 'और' 'सोने जाने' का आरोप है। पूरा उदाहरण सो कर उठी हुई नायिका का अप्रस्तुत है, परन्तु वस्तुच्छाया की प्रत्यक्षता, दृश्यांकन (imagery) की कुशल वास्तविकता के कारण वही भाव-दृष्टि से प्रस्तुत हो उठा है।

परंतु ऊपर की पंक्ति 'कामायनी' के एक प्रसंग का अंश है और उस प्रसंग के साथ ग्रहण की जाने पर वह स्वयं प्रस्तुत ही है और यथार्थ में, छायावाद का उदाहरण नहीं है। उसमे प्रकृति ही वर्ण्य है। पर छायावाद के संबंध मे कई लोगों मे एक प्रकार की भ्रांत धारणा है। जड अथवा अमूर्तों के वर्णन मे कहीं कही बहुत अधिक लाक्षणिकता आ जाने से बहुत से लोगों के लिए कथन मे जो एक अस्पष्टता पैदा हो जाती है उसी को वे 'छायावाद' कहने लगते हैं। ऊपर के उदाहरण मे इस प्रकार की लाक्षणिकता खूब है, परतु उसमे अस्पष्टता नहीं है। पर—

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

या— कौन हो तुम विश्वमाया कुहक सी साकार

प्राणसत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार ?"

मे लाक्षणिकता बहुत दूर तक गई है, जिससे व्यंग्य भी गहन हो जाता है और सर्वसाधारण के लिए इन शब्दों मे अस्पष्टता आ जाती है। किसी मूर्त को अमूर्त अव्यक्त उपमान द्वारा दृष्टिगोचर करने में जहाँ अमूर्त उपमान मे मूर्तता लाई जाकर उसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की 'प्रसाद' की चेष्टा रहती है वहीं मूर्त उपमेय को भावरूप मे समझने का उनका प्रयत्न भी दर्शनीय है। क्योंकि

किसी भी पदार्थ का जीवन में हमारे लिये जो भी महत्त्व है वह हमारे चेतन जीवन के साथ उसके भावरूप सामंजस्य से ही है। 'जिह्वा' का अर्थ और कुछ नहीं, केवल उसकी स्वादशक्ति ही है और इसीसे उसके लिए गुड भी एक मीठा पदार्थ समझा जाता है। परन्तु जिस जिह्वा को गुडमार घास द्वारा जडीकृत कर दिया गया है वह न तो स्वय ही जिह्वा रहती है और न उसके लिए गुड का अस्तित्व ही रहता है।

भावमय जगत मे इस प्रकार बात कहने का रिवाज पुराना है, मनुष्य प्रायः किसी प्रियजन से कहा करते हैं 'तुम्हीं मेरे जीवन का सुख हो' परन्तु यही पद्धति कविता में जब बहुत अधिक व्यग्य मार्ग का अनुसरण करने लगती है तो वह साधारण प्रतिपत्ति वाले या कम भावुकता वाले लोगों के लिए दुर्बोध्य और निरर्थक हो उठती है और कोरा शास्त्रपरिचय ही उसको पूरी तरह नहीं सुलझा सकता। शास्त्र के अनुसार उपमान या अप्रस्तुत कोई अति प्रसिद्ध, चमत्कारी, और साधारण धर्म मे उपमेय से अधिक विशिष्ट, पदार्थ होना चाहिए। ऐसी दशा मे 'कौतूहल' अथवा 'विश्वमाया-कुहक' अथवा 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' का उपमानत्व शास्त्र की समझ मे आना कठिन है। स्वयं प्रकृत-जन्य होने के कारण, प्रकृत के प्रति इन उपमानों का अप्रकृतत्व शास्त्र की दृष्टि मे शायद अप्रयोज्य भी हो। तथापि प्रकृतजन्य उपमेयों या उपमानों का भी साधारण कहने-सुनने मे प्रयोग न होता हो, सो बात तो नहीं है। अपने पिता से सूरत-शक्ल मे हू ब-हू मिलने वाले पुत्र से हम कहते हैं 'तुम बिलकुल

अपने पिता के समान हो' अथवा 'तुम अपने पिता के प्रतिरूप हो, किसी बड़े अच्छे कारीगर की बड़ी अच्छी कारीगरी को देख कर भी हम कहते हैं 'यह कृति कलाकार की कला की साक्षात् मूर्ति है।'

वास्तव में यदि देखा जाय तो, किसी वस्तु के सच्चे भाव का सच्चा ग्रहण इस प्रकार की कल्पनाओं में ही अधिक अच्छा होता है। जो व्यक्ति 'कौतूहल' अथवा 'विश्वमाया कुहक' या 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' के समान बताया जाता है, वह वास्तव में वक्ता के लिए 'कौतूहल' या 'कुहक' या 'मनोहर भेद' के भावों का प्रतीक है। यदि उससे वक्ता में ये भाव पैदा न हों तो वक्ता के लिए उसका अस्तित्व ही नहीं है। 'उस' का और 'कौतूहल' आदि का उपस्थित होना वक्ता के लिए समकालिक है और यह दोनों 'उपस्थित होने', इसलिए, वक्ता की दृष्टि में एक ही पदार्थ हैं। तब क्या यह कहा जा सकता है कि 'उस'—प्रकृत के लिए 'कौतूहल' आदि से अधिक उपयुक्त दूसरा उपमान भी कोई हो सकता था? हमारी समझ में जितनी सचाई और वास्तविकता इन उपमानों में है उतनी लोकविश्रुत उपमानों में नहीं होती। 'चन्द्रमा', 'पंकज' आदि, फिर भी, अपेक्षा की दृष्टि से, कृत्रिम से ही मालूम होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपमान-कथन में सर्वत्र लाक्षणिकता और अतिशयोक्ति रहती है, जिससे कथन के तत्व-बोध में कृत्रिमता भी अवश्य आ ही जाती है। परन्तु उपमानों के प्रयोग में तत्वबोध से हमारा कोई काम नहीं रहता—हमारा काम भावबोध से रहता है। इसीलिए 'चन्द्रमा' और 'पंकज' की कृत्रिमता हमें नहीं

खटकती। पर 'चन्द्रमा' और 'पंकज' लक्षणा से रूढ़ हो गए हैं, और जो लक्षणा प्रयोग रूढ़ हो जाते है उन्हे सर्वसाधारण आसानी से समझ लेते हैं। उनकी कृत्रिमता का उन्हे ध्यान नहीं होता। 'प्रसाद' की लाक्षणिकता रूढ़ि के अवलंब पर स्थित नहीं हैं, वह प्रयोजन के हेतु से सकर्मण्य है। उसका प्रयोजन भाव के अधिक से अधिक साक्षात्कार का रहता है। भाव एक बड़ी जटिल वस्तु है। उसको जितना ही खोलो उतनी ही तह पर तह उसमे से निकलती चली आती हैं, जिससे लाक्षणिकता के बाद जो व्यंजना आती है वह और भी अधिक गहन होने लगती है। 'विश्व-माया-कुहक', और उसके साथ साथ 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद', का विश्लेषण करने से हमे इस प्रकार की 'तह पर तह' का पता लगने लगेगा। जनसाधारण की पहुँच कम होने से, वे भावो की इन तहों को देख नहीं सकते, उनके लिए इस प्रकार की कविता अर्थहीन और अस्पष्ट है जिसके कारण वे उसे 'नये स्कूल की छाया-वादी पद्य-रचना' कह देने मे अपना विद्यागौरव समझते हैं। पर ऊपर के इन दोनो उदाहरणों मे भी छायावाद नहीं है।

हाँ, भावों की गहराई के कारण 'प्रसाद' मे अस्पष्टता अवश्य है। यह स्वाभाविक है। भावों मे गहरे उतरने का अर्थ ही है अस्पष्टता मे भ्रमण करना। यदि जीवन का रूप भाव और भाव की प्रेरणा है तो अस्पष्टता स्वयं जीवन का ही एक तत्व है। जो लोग विचार और शुष्क विवेक को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं उन्हे भी भावों की प्रधानता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। जीवन का संचा-

लन जितना भावों से होता है उतना विचारों से नहीं। वस्तुत: जहाँ विचार कार्य करता है वहाँ भी न मालूम भाव किधर से छिप आकर विचार का समर्थक और प्रेरक बन जाता है। 'प्रसाद' ने विचारों और भावों के इस अन्योन्याश्रय को खूब पहचाना है। प्राय हम देखते हैं कि उनकी भावुकता मन के किसी विषय को लेकर उत्पन्न होती है और विचार कभी भावुकता के किसी विषय को लेकर उठते हैं। अकसर दोनों मे पारंपर्य की कई कई सरणियाँ देखने मे आती हैं। इसके कारण, तथा भावुकता की गहरी पहुँच मे अमूर्त उपमान आदि अथवा जडता मे सजीवता के आरोप आदि के कारण, 'प्रसाद' की कविता मे हमको यदि अस्पष्टता दिखाई देती है तो वह जीवन की ही अस्पष्टता है। जो कवि जीवन की अस्पष्टता को ठीक ठीक समझ कर उसका वास्तविक भावुकतामय रूप दिखा सकता है वह सचमुच बडा भारी कवि है। प्रसाद ने एक स्थान पर कहलाया है—" ...विकल रंग भर देती हो। अस्फुट रेखा की सीमा मे आकार कला को देती हो।" परन्तु हाँ, जिस कवि की अस्पष्टता, अनुभूति से रिक्त होकर, उसकी समझ और भावुकता की असामर्थ्य से उत्पन्न होती है वह हेय है। अस्पष्टता की भी एक बडी ऊँची फ़िलॉसफ़ी है। 'नेति नेति' अथवा 'स्याद्वाद' के दार्शनिक अस्पष्टवादी ही हैं। कवि कोरा दार्शनिक नहीं होता। वह जडदर्शन को अपनी अनुभूति की भावुकता से सजीव, स्पन्दन-युक्त, वस्तु बना देता है। 'प्रसाद' को हम इसी कोटि का दार्शनिक-कवि समझते हैं।

'प्रसाद' को समझने मे जो कठिनता होती है उसका एक कारण यह भी है कि हम प्राय. उनकी पद्धति को समझने की चेष्टा नही करते। इस ऊपर के विवेचन द्वारा उनकी काव्य-पद्धति को थोड़ा-बहुत समझने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली का एक अन्य अति प्रधान गुण है 'अद्भुत'-प्रियता या 'रोमास' (romance) की प्रवृत्ति। उनके काव्य मे जीवन के रोमास के साथ साथ शैली की 'अद्भुत'-ता बराबर चलती है। प्रबध-रचनाओं मे यह तत्व विशेष रूप से देखने मे आता है।

छायावाद का मोटा लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। मनुष्य-प्रकृति और जड़ प्रकृति के सामजस्य की भावना ही अपने अधिक विकास मे छायावाद को जन्म देती है, जिसमे प्रकृति जीवन का प्रतीक बन जाती है। 'प्रसाद' की दो एक छायावादी कविताएँ ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं। एक उदाहरण और देते हैं—

> रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
> अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
> गूँज उठी तेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
> कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।'
> दुख सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
> जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात।
> तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
> सोनेवाले जग कर देखे अपने सुख का सपना।

रहस्यवाद का एक नया उदाहरण यह है—

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान !
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान ।

छायावादी और रहस्यवादी कवि होने की हैसियत से प्रकृति को इन्होंने जिस रूप से अपनाया है उसमें इनकी दृश्यचित्रण की सहज सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है । नीचे के उद्धरणों में प्रलय का कितना सुंदर—अद्वितीय—वर्णन है, जिसमें काव्य शास्त्री एक साथ कई कई रस ढूँढ सकते हैं —

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके ।
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ।
उधर गरजती सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आरहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी ।
धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और सकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास ।

सजल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी;
क्रमशः क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सबका,
पंचभूत का यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कब का।

रूप वर्णन का भी एक उदाहरण नीचे देखा जा सकता है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम— बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद, दिखाई देता हो छवि धाम।
घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान! रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।

प्रेम और विरह की हार्दिक वृत्तियों को लेकर जो भावुकता उत्पन्न होती है, उसके दो-एक उदाहरण ऊपर आ गए हैं। पर 'कामायनी' के विरह-वर्णन की भावुकता साहित्य में एक नई चीज है और उसकी महामूल्य संपत्ति है। नीचे उदाहरण स्वरूप उसमें से कुछ पद्य दिए जाते हैं, जिनमें पहले दो कवि द्वारा वर्णन के रूप में हैं, शेष कामायनी के विलाप के रूप में हैं—

(क) कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ

वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।

(ख) "एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही,
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

(ग) "आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले।

(घ) वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ?
और मधुर विश्वास! अरे वह पागल मन का मोह रहा,
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा।

(ङ) "वे कुछ दिन जो हँसते आए अंतरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से,
फैल गई जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवास में चले गए वे आने को कह कर छल से!

(च) "बन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
किंतु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन बिंदुकण-कण बरसे।"

'कामायनी' 'प्रसाद' जी का महाकाव्य है। इसका आधार मानव सृष्टि के आदि पुरुष मनु की कथा है। मनु और मानव सृष्टि की कथा के संबध मे तरह तरह के मत हैं। 'प्रसाद' स्वयं उस कथा को ऐतिहासिक मानने को तैयार हैं, परन्तु अन्यान्य व्याख्याताओ के अनुसार उसे रूपक या दृष्टात (allegory) भी माना जा सकता है। हमारा भी निजी विचार यही है कि 'कामायनी' एक रूपक-रचना है। मन के विकास के साथ साथ संसृति के विकास के पुरातन दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त को लेकर कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा और सहानुभूति के साथ उसे लौकिक कथा का मनोहर रूप दे दिया है। यथार्थ बात तो यह है उसने कथा के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दोनों ही पक्षों को दृष्टिगत रक्खा है। इस प्रकार की रचना का भारतीय (?) साहित्य में यह शायद पहला श्रेष्ठ और सफल प्रयास है। 'प्रबध-चन्द्रोदय' आदि रूपक तो हैं, पर वे काव्य नहीं बन सके।

जयशंकर 'प्रसाद' की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। गद्य और पद्य, दोनों, मे उनकी अबाध गति थी। उन्होंने ब्रज भाषा और खड़ी बोली, दोनों ही, मे अच्छी कविता और स्फुट पद्य, गीतिकाव्य तथा प्रबंधकाव्य लिखे। गद्य मे नाटक—उपन्यास, कहानी, निबंध ये सभी उनकी लेखनी के विषय बने और सभी मे—उपन्यासो को छोड कर—उन्होंने अद्वितीय कुशलता दिखलाई। छायावादी कविता, नाटक तथा कहानी के लिए तो वे हिन्दी-संसार मे युगप्रवर्तक के रूप मे ही अवतीर्ण हुए। यह सच है कि उनकी कला क्रमश

विकसित हुई, परन्तु उनका रचना-कार्य बहुत छोटी अवस्था में ही आरंभ हो गया था और उनकी प्रारंभिक रचनाओं में ही उनके उच्चतम विकास के बीज मौजूद थे। यही प्रतिभा की शुद्ध पहचान है। इतनी थोड़ी आयु पाकर, गृहस्थी और व्यवसाय का भार सँभालते हुए भी, उन्होंने जितना अधिक और जैसा श्रेष्ठ साहित्य हमें दिया है उसे देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे साहित्य-संसार में एक असाधारण व्यक्तित्व के महापुरुष थे जैसे कि कभी कभी, एक पूरे युग में ही, पथप्रदर्शन के लिए अवतार लिया करते हैं।